शिक्षा में नवीन प्रयोग

स्वयं-ज्ञान तथा खेल विधियाँ

लेखक

रामखेलावन चौधरी, एम० एड०

प्रकाशक

विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ.

पहली बार, ५००]   फरवरी, १९५५   [मू० सवा रुपया

विषय-सूची

❀ भूमिका ❀

गत पचास वर्षों में, शिक्षण-कला को एक 'विज्ञान' के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न बराबर होता रहा है। इस प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप 'स्वयंज्ञान-विधि' का जन्म हुआ। साथ ही अध्यापन को रुचिकर बनाने के लिए जो प्रयोग हुए उनके आधार पर 'खेल' को शिक्षण का माध्यम स्वीकार कर लिया गया। अब 'स्वयंज्ञान-विधि' और 'खेल-विधि'—दोनो ही अध्यापन में प्रयुक्त होती है। इस छोटी सी पुस्तक में इन दोनों विधियों का विवरण और उनके सिद्धांतों तथा गुण-दोषों का विवेचन करने का प्रयास मैंने किया है। शिक्षण-कला का अभ्यास करने वाले स्नातकों का यदि इससे ज्ञानवर्धन हुआ, तो मै अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

—लेखक

मुद्रक—नवभारत प्रेस, लखनऊ

शुद्धि-पत्र

	पृष्ठ	पंक्ति	के स्थान पर	पढ़िये
	६	१	लाग	लोग
	९	४	साहित्यक	साहित्यिक
	१०	१३	अथ	अर्थ
	२३	१२	लक्ष्य	तथ्य
	२५	६	उद्धृत	से उद्धृत
१.	२६	१३	आर	और
	२६	१६	भी	भी जो
	२७	१	परोक्षेरूप	परोक्षरूप
	२७	४	भावीजीवन	भावी जीवन मे
	२७	२५	सकने में	सकने मे अपने को
२	३०	१०	सामाजिक	स्वाभाविक
	३२	२	खेलो के	खेलो को
	३३	२७	ध्यान	ध्यान न
	३४	१२	चित्रवृत्ति	चित्तवृत्ति
	३४	२७	भुलाने मे	भुलावे में
	३५	१	वतमान	वर्तमान
	३६	४	दुरुषयोग	दुरुपयोग
	३७	१०	स्वग	स्वर्ग
	३८	१६	सक्रते	सकते
	३९	२६	टेनिग	ट्रेनिग
	४२	१०	शिक्षण	शिक्षण में
	४५	१९	Shorthand	Short-hand
	४६	१४	पैक	उत्पन्न
	५१	२५	काव्यामत्क	काव्यात्मक
	५५	१४	शैक्षिक पदप्रदर्शन	शैक्षिक पथप्रदर्शन
	५९	१	सरते	सस्ते
	६०	१९	होता	होता है

स्वयं-ज्ञान-विधि (Heuristic Method)

स्वयंज्ञान विधि का जन्म वर्तमानकालीन वैज्ञानिक प्रवृत्ति से हुआ है। जिस प्रकार वैज्ञानिकों ने आविष्कार तथा अनुसन्धान करने के लिए वैज्ञानिक विधि निकाली है, उसी प्रकार शिक्षाशास्त्रियों ने भी बालकों के शिक्षण के लिए, वैज्ञानिक पाठन-विधि निकाली है। दोनों विधियों में पूर्ण रूप से साम्य है। 'अनुसन्धान' और 'पाठन' दोनों क्रियाओं में एक ही प्रकार के नियम और ढंग काम में लाये जाते है। आविष्कार या अनुसन्धान के लिए प्रयुक्त वैज्ञानिक-विधि में क्रम से चार सीढ़ियाँ पार करनी पड़नी है। वे है, पर्यवेक्षण (Observation), तथ्यसंग्रह (Collection of Data), तुलना (Comparision) और निष्कर्ष (Generalisation)। पहले अनुसन्धानकर्त्ता ध्यानपूर्वक प्रकृति के अंग-प्रत्यंग का पर्यवेक्षण करता है, और प्रत्येक तथ्य को यथावत् एक स्थान पर सुचारु रूप से लिख लेता है। फिर सब तथ्यों की वह परस्पर तुलना करके यह देखता है कि कौन सी घटना समान रूप से घटित होती है। इस सर्वनिष्ठ समानता के आधार पर वह नियम बना लेता है। संक्षेप मे इस वैज्ञानिक-विधि में, बेकन द्वारा प्रतिपादित अगमन (Induction) का सिद्धान्त प्रयुक्त किया जाता है, जिसके सम्बन्ध में हम पीछे कई प्रसंगों में लिख चुके हैं। इस वैज्ञानिक विधि से इतना अधिक लाभ हुआ है कि भौतिक तथा जीव-विज्ञान, दोनों क्षेत्रों में इसका बराबर उपयोग किया जा रहा है और आशा की जाती है कि भविष्य के गर्भ में छिपे हुए कितने ही रहस्य, शीघ्र ही खोज निकाले जायेंगे। इस वैज्ञानिक-विधि की उपयोगिता को देखकर सामाजिक विषयों में, नियम-निर्धारण तथा निष्कर्ष निकालने में विद्वान

लोग, निःसंकोच इसका प्रयोग करने लगे है। नागरिक शास्त्र-समाज-शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, साहित्य और भाषाविज्ञान आदि में वैज्ञानिक-विधि द्वारा अनेक उपयोगी नियम निकाले गये है। शिक्षा-विज्ञान भी अपवाद नहीं है। शिक्षाशास्त्रियों ने इस विधि को शिक्षण-कार्य में प्रयुक्त करके दिखा दिया है। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग (Armstrong) को इसका श्रेय प्राप्त है। आपने बालकों की पढ़ाई मे इसी विधि का प्रयोग किया। उन्होंने इस वैज्ञानिक-विधि का नामकरण 'स्वयंज्ञान विधि' (Heuristic Method) किया। 'ह्यूरिश्रोस' शब्द उन्होंने ग्रीकभाषा से चुना जिसका अर्थ है—अपने आप खोजना। स्वयंज्ञान विधि की विशेषता यह है कि बालक अपनी पढ़ाई स्वयं करता है। वह एक आविष्कारक या अन्वेषक के रूप में काम करते-करते सारी शिक्षा प्राप्त करता है। उसे किसी वस्तु या नियम का ज्ञान प्राप्त करने के लिये, पर्यवेक्षण, तथ्यसंग्रह, तुलना और निष्कर्ष की सीढ़ियाँ पार करनी पड़ती है।

यों तो प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग को स्वयंज्ञान-विधि के प्रणेता होने का सौभाग्य प्राप्त है, परन्तु उनकी विधि का उद्‌गम स्रोत हमें उनके पूर्ववर्ती शिक्षाचार्यों में मिलता है। उनकी विधि विज्ञान सम्बन्धी आन्दोलनों से उत्पन्न हुई। विज्ञान द्वारा शिक्षा का क्षेत्र गत शताब्दी में बड़ी तेजी से अतिक्रांत होने लगा। अतः इस सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

आधुनिक शिक्षा में वैज्ञानिक प्रगति

उन्नीसवी शताब्दी के प्रारंभ से ही शिक्षा पर विज्ञान का द्रुतगति से प्रभाव पड़ने लगा। यह प्रभाव बहुमुखी था। सबसे पहले हम पाठ्यक्रम (Curriculum) की बात लेते है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक, वैज्ञानिक विषयों ने बहुत ज्यादा उन्नति कर ली थी। इसलिए अभी तक स्कूल में पढ़ाये जानेवाले सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों

की प्रधानता के विरुद्ध आंदोलन छिड़ गया। इस आंदोलन का नेतृत्व करने वाले हरबर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) और हक्सले (Thomas H. Huxley) हैं। इन लोगों ने तुरन्त ही पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की माँग पेश की। इंगलैंड में, सबसे पहले जार्ज काम्बे (George Combe) ने शिक्षा में परिवर्तन करने का आंदोलन चलाया था। इनके तर्क निम्नलिखित हैं :—

(१) प्राचीनकाल में शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि मनुष्य के मन (Mind) में विभिन्न मानसिक शक्तियों, जैसे स्मृति, विचार, तर्क, भाव आदि के अलग-अलग स्थान नियत हैं। जिस प्रकार अभ्यास और कसरत से हाथ और शरीर के दूसरे अंग पुष्ट हो जाते हैं, उसी तरह यदि इन शक्तियों को कसरत कराई जाय तो वह बढ़ती और पुष्ट होती हैं। इसके लिए उन्होंने प्रत्येक शक्ति के लिए अलग-अलग विषय निश्चित कर दिए थे, जैसे स्मरणशक्ति की वृद्धि के लिये कविता कंठस्थ कराना, या विचार और तर्क-शक्ति को बढ़ाने के लिए गणित का अभ्यास कराना आदि। इसे 'फैकल्टी' (Faculty) मनोविज्ञान कहा जाता है। इस प्राचीन विचारधारा के कारण सामाजिक तथा साहित्यिक विषयों का महत्व अभी तक बढ़ा-चढ़ा था। वैज्ञानिक प्रगति तथा प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक खोजों से यह धारणा निर्मूल सिद्ध होगई है। किसी एक विषय का, किसी एक मानसिक शक्ति से संबंध नहा है और न मनुष्य का मन अलग-अलग क्षेत्रों में बँटा है। प्राचीन मनोवैज्ञानिक जिन्हें मानसिक शक्तियाँ (जैसे स्मृति, विचार आदि) कहते हैं वे एक ही मन के अलग-अलग काम करने के ढंग हैं। जब सम्पूर्ण मन ग्रहण करने का काम करता है, तो उसे 'स्मृति' कह सकते हैं। अलग अलग शक्तियों की कल्पना भ्रमपूर्ण है। "समस्त मन संघटित रूप से काम करता है" (Mind works as a whole) ऐसी दशा में 'विषय' का मानसिक-प्रगति से कोई संबंध नहीं है। फिर अब भी स्कूलों में, साहित्य और गणित विषय क्यों उसी पुराने

ढंग से पढ़ाये जाते हैं? इसका उत्तर है, परंपरा। अर्थात् सदियों से यह विषय पढ़ाये जाते रहे हैं, इसलिए अब भी पढ़ाये जा रहे हैं। प्राचीन मनोविज्ञान के दोष प्रकट होने पर भी, लोग नहीं सोचते कि पाठ्यक्रम में अंतर लाने की आवश्यकता है। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक "शिक्षा-बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक" (Education, Intellectual Moral, and Physical) में लिखा है—

"यदि आपको वर्तमान शिक्षा की भद्दी तथा गिरी हुई दशा का प्रमाण चाहिए, तो वह यह है कि अभी तक पाठ्य-विषयों के महत्व का तुलनात्मक अध्ययन ही नहीं किया गया है। यही नहीं, पाठ्य विषयों के मूल्यांकन के लिए कोई ठोस स्तर (Standard) तक नहीं बनाया गया है। कहाँ तक कहें, ऐसे स्तर की आवश्यकता तक नहीं अनुभव की गई। लोग इस विषय पर पुस्तकें पढ़ते है, भाषण सुनते है और कहते भी है कि हमारे बच्चो को यह पाठ्य-विषय पढ़ाया जाय, या वह पढ़ाया जाय, परन्तु उनकी यह सारी बातें और मांगें परंपरा, पसंद या पूर्व धारणा पर आधारित है; उन्होंने विचार तक नहीं किया है कि पाठ्य-विषयों का मूल्य निर्धारित करने के लिए कोई तर्कपूर्ण तरीका होना चाहिए। लोग ऐसे प्रश्नों को, जैसे किसी प्रकार के विषय को पढ़ाने के लिए कितना समय दिया जाय, उतना समय देना कहाँ तक उचित है, क्या उससे अधिक महत्वपूर्ण और भी विषय हो सकते है, ऐसे नये पाठ्य-विषय कौन हैं—उठाते ही नही और यदि उठाते है, तो वह टाल दिये जाते हैं। हमें यत्र-तत्र साहित्यिक तथा गणित के विषयों पर वादविवाद सुनने को मिलते हैं। यह सारे वाद-विवाद निराधार तथा तर्कपूर्ण नही होते।"

पाठ्यक्रम के लिये विषयों को निर्धारित करने की ओर लोगों का ध्यान ही नहीं गया था। इसलिए पुराने विषय चल रहे थे। स्पेंसर ने जोरों से इन विषयों का विरोध करना आरंभ किया और पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को प्रमुख स्थान देने पर जोर दिया। स्पेंसर की तरह अन्य शिक्षाशास्त्रियों ने कहा कि मानसिक शक्तियों का विकास केवल

'साहित्य' या 'गणित' जैसे विषयों पर निर्भर नहीं है। नये विषयों की भी आवश्यकता है। मानसिक शक्तियों का अलग-अलग अस्तित्व यदि नहीं है, तो पुराने विषयों की आवश्यकता नहीं रह जाती, और यदि है तो वैज्ञानिक विषयों से वही काम लिया जा सकता है, जो साहित्यक विषयों से अभी तक लिया जाता रहा है।

(२) पाठ्यक्रम में वैज्ञानिक विषयों को स्थान देने के लिए एक तर्क और दिया गया। विज्ञान-प्रेमी शिक्षा-शास्त्रियों ने विषयों के दो वर्ग बनाये। (अ) साधन विषय—जिनसे सत्य की खोज में सहायता मिलती है, जैसे भाषा, व्याकरण, लिखना, गणित आदि, क्योंकि इनकी सहायता से हम अपने चारों ओर की भौतिक, बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। (ब) साध्य विषय—जिनमें वास्तविक ज्ञान संचित है, जैसे वैज्ञानिक विषय। प्राचीन शिक्षा-पद्धति में साधन विषयों का महत्व अधिक बढ़ा दिया गया था, जो उचित न था। वास्तव में साध्य-विषयों को ऊँचा स्थान मिलना चाहिए। इस दृष्टि से वैज्ञानिक विषयों को पाठ्यक्रम में प्रथम स्थान देना उचित है।

(३) प्राचीन शिक्षा में साहित्य, इतिहास और गणित को सांस्कृतिक दृष्टि से (Culture point of View) ऊँचा स्थान दिया गया था। इन विषयों के अध्ययन से, शिक्षित मनुष्य उदार (Liberal) बन जाता है। उसके भाव कोमल हो जाते हैं और उसका आचरण शिष्टतापूर्ण तथा मधुर हो जाता है। 'वैज्ञान्कि विषयों' में शुष्कता होती है, इसलिये शिक्षा में इनको स्थान नहीं मिला था। अब विज्ञान-प्रेमी शिक्षाचार्यों ने वैज्ञानिक-विषयों को साहित्यिक विषयों के समकक्ष लाने के लिये बड़े ही प्रभावशाली तर्क उपस्थित किये। सांस्कृतिक दृष्टि से नवीन वैज्ञानिक-विषयों का महत्व और भी अधिक माना जाना चाहिए। आज की नवीन संस्कृति विज्ञान की देन है और वह प्राचीन ग्रीस या रोम की संस्कृति से भिन्न है। अतः प्राचीन

साहित्य, दर्शन और धर्म आदि विषयों की पढ़ाई इस नवीन संस्कृति के अनुकूल नहीं है।

यह नवीन संस्कृति क्या है ? आज नयी-नयी कलाओं का जन्म हो गया है, विज्ञान द्वारा अनेक जीवनोपयोगी आविष्कारों का जन्म हुआ है। आज मनुष्य का रहन-सहन कुछ ऐसे ढंग का हो गया है, जिसकी कल्पना ग्रीस और रोम के लोग तो क्या, अब से सौ वर्ष पूर्व की पीढ़ी के लोग भी नहीं कर सकते थे। प्रकृति के निरीक्षण और अध्ययन से जो ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, वह प्राचीन धार्मिक तथा दार्शनिक ज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत है। अतः शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करना अभीष्ट है। अभी तक धर्म, दर्शन और साहित्य-उदार-शिक्षा (Liberal Education) के अन्तर्गत माने जाते थे। मानव-जीवन में जो व्यापक परिवर्तन हो रहा है, उसे देखते हुए 'उदार-शिक्षा' का प्राचीन अर्थ बदल कर हमें एक नया अर्थ लगाना पड़ेगा। पहले उदार शिक्षा का अर्थ, 'बौद्धिक-ज्ञान' समझा जाता था, अब उदार-शिक्षा का अर्थ 'व्यावहारिक ज्ञान' माना जाने लगा है। उदार शिक्षा वह है, जो मनुष्य को अपने व्यवसाय, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में सफलता प्रदान करती है और उसे एक योग्य नागरिक बनाती है। ऐसी शिक्षा व्यावहारिक होती है, वह शिक्षित व्यक्ति को अपने व्यवसाय और सामाजिक अंगों का ज्ञान प्राप्त कराती है। ऐसी उदार शिक्षा की परिभाषा देते हुए हरबर्ट स्पेंसर ने लिखा है—

"हमें सर्वांगीण जीवन बिताने के लिए तैयार करना ऐसा काम है, जिसे पूरा करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है; और पाठ्यक्रम के मूल्यांकन का आधार केवल यही है—शिक्षा कहाँ तक अपना यह कार्य (सर्वांगीण जीवन बिताने की कला सिखाना) पूरा कर सकती है।"

नवीन उदार शिक्षा के, जिसका उद्देश्य मनुष्य को सर्वांगीण जीवन बिताने के योग्य बनाना है, मुख्य तत्व क्या हैं ? सर्वांगीण जीवन का अर्थ क्या ? स्पेंसर ने बताया है उदार शिक्षा के दो मुख्य तत्व हैं;

(अ) ज्ञान-प्राप्ति, जिससे मनुष्य अपने को दैनिक तथा सामाजिक जीवन के अनुकूल बना सके, और (ब) ज्ञान का व्यवहार, जिससे मनुष्य रचनात्मक कार्य कर सके। इससे सर्वांगीण जीवन बिताने में सफलता मिलती है। सर्वांगीण जीवन के अन्तर्गत कई बातें आती है, जैसे (१) जीवन-रक्षा के लिए आवश्यक ज्ञान, जो शरीर, स्वास्थ्य-रक्षा, भौतिक तथा रसायन आदि विज्ञानों से प्राप्त हो सकता है, (२) जीवन चलाने के लिए उचित ज्ञान, जैसे, भोजन, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को उपलब्ध करना; (३) संतानोत्पत्ति तथा लालन-पालन का ज्ञान, जिसके द्वारा भावी मानव-नस्ल को अधिक स्वस्थ और सुयोग्य बनाया जा सके, (४) सामाजिक तथा राजनैतिक ज्ञान, जिससे नागरिकता का भाव पुष्ट होता है, और (५) साहित्य, कला तथा मनोरंजन की अन्य कलाओं का ज्ञान जिनसे मनुष्य को मानसिक सुख मिलता है।

स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित नवीन उदार-शिक्षा में, जो वर्तमान मानव संस्कृति के बहुत कुछ अनुकूल है, प्राचीन धार्मिक तथा साहित्यिक विषय, आधुनिक विज्ञान-विषयों के अंत में आते हैं। वास्तव में आज साहित्य और भाषा अपना महत्व खो बैठे है। इसका कारण है, मानव जीवन की बदलती हुई स्थिति। भौतिक-विज्ञान की उन्नति से, मानव जीवन का हर एक पहलू बदल गया है। अनेक प्रकार के नये उद्योग-धंधे निकल आये है, जिनके लिए राजनैतिक क्षेत्र में प्रजातांत्रिक भावनायें जोर पकड़ रही है। राष्ट्र के शासन में प्रत्येक व्यक्ति का उत्तर-दायित्व समान है। प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता की शिक्षा मिलना आवश्यक है। साहित्य और भाषा आदि की शिक्षा से वर्तमान जीवन की उपर्युक्त आवश्यकतायें नहीं पूरी होतीं। थामस हक्सले (Huxley) ने प्राचीन शिक्षा-क्रम की बड़ी कटु आलोचना की है। ऐसी शिक्षा पर कितना ही धन क्यों न व्यय किया जाय, उससे जीवन में कुछ सहायता नहीं मिल सकती।

शिक्षा के क्षेत्र में, वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव शिक्षणविधि पर डाला है। नवीन पाठ्य विषयों को, प्राचीन शिक्षण-विधियों द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता। प्राचीन पाठ्य-विषयों की पढ़ाई में बौद्धिक कार्य की प्रधानता थी। इसलिए उन्हे स्कूल के बंद कमरों में ज्ञानेंद्रियों और कर्मेन्द्रियों से खुलकर काम लेना पड़ता है। वैज्ञानिक शोधों और आविष्कारों में इंद्रियों का उपयोग हर प्रकार से किया गया था। इसलिए शिक्षाशास्त्रियों ने नवीन शिक्षण-विधि में वैज्ञानिक शोध-विधि का समावेश किया। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग की स्वयंज्ञान-विधि इसका फल है। इस संबंध में प्रोफेसर महोदय के विचार उनके लेखों से उद्धृत किये जाते है जिनमें उन्होंने अपनी विधि की आवश्यकता बतायी है।

(क) *शिक्षणविधि में परिवर्तन की आवश्यकता*——पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तनों के संबंध मे, प्रो० आर्मस्ट्रांग के विचारों का वर्णन देना यहाँ पर अनावश्यक होगा, क्योंकि उनके विचार स्पेंसर और हक्सले से बहुत-कुछ मिलते है। पाठ्यक्रम में परिवर्तन के अनुकूल, पाठनविधि मे बहुत बड़ा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन शिक्षणविधि केवल ऐतिहासिक और धार्मिक विषयों को पढ़ाने के उपयुक्त थी। यह विषय केवल इसलिये पढ़ाये जाते थे कि प्राचीन सामाजिक-व्यवस्था अपने मूल रूप में वर्तमान रहे। उस पढ़ाई को प्रचारमात्र समझना चाहिए। उसे ज्यों का त्यों ग्रहण करना विद्यार्थी का कर्तव्य था। इसलिए शिक्षणविधि में रटने पर जोर दिया जाता था। पाठन-विधि में 'प्रयोग' जैसी क्रिया को स्थान कैसे मिलता। उससे तो व्यवस्था के स्थायी होने के स्थान पर नष्ट होने की संभावना थी। बालक में आलोचना-शक्ति का उदय होना, हानिकर होता। उसे तो कुछ समाजोपयोगी आदतें सिखाने में लाभ था। समझदारी बुद्धि, विवेक, छानबीन आदि के गुण अनावश्यक माने जाते थे, उसके स्थान पर श्रद्धा, भक्ति, आज्ञापालन आदि गुण, समाज-व्यवस्था

को स्थिर रखने के लिए अधिक आवश्यक समझे जाते थे। आज सामाजिक परिस्थितियाँ बदल गई है। आज जो कुछ उपयोगी है, कल वही हानिकारक हो सकता है। अतः समय समय पर सिद्धांतों की परीक्षा करना आवश्यक है। इसके लिए प्रयोगात्मक-विधि का शिक्षण में प्रयोग करना अधिक लाभदायक होगा। सामाजिक जीवन का स्तर उच्च करने के लिए बालकों को अधिक से अधिक विवेकशील बनाना उचित होगा। प्रो० आर्मस्ट्राँग ने अपने एक लेख, "पचीस वर्ष बाद" मे, इस बात पर बारबार जोर दिया है कि बदलते हुए समय के अनुसार शिक्षणविधि मे यदि परिवर्तन न किया गया, तो शिक्षा मे किये जाने वाले सभी सुधार और शोधात्मक कार्यों से कोई लाभ न होगा। कारण यह है कि बिना शिक्षणविधि को नया रूप दिये हुए, नये विषयों, और नयी संगठन व्यवस्था का आयोजन न हो सकेगा।

(क) यह *नई विधि—स्वयंज्ञानविधि* (Heuristic Method) हो—पढ़ाई की यह नई विधि, वही होनी चाहिए, जिसे आदिम मनुष्य अपने हर एक काम के करने में प्रयुक्त करता था। वही विधि वह आज भी, स्कूल के बाहर प्रत्येक वस्तु मे किसी काम को पूरा करने में प्रयुक्त करता है। उसे हम 'स्वयं-ज्ञानविधि' कह सकते है। इसका अर्थ है, "अनुभव, छानबीन और पर्यवेक्षण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की विधि, जो व्यवस्थित और नियमबद्ध हो।" (पचीस वर्ष बाद—लेख से) बालको की पढ़ाई बंद कमरों मे और कुर्सी-मेज पर बैठाकर न की जाय। केवल वस्तुओं के बारे में उन्हें जानकारी कराना पर्याप्त नहीं है वरन् उन्हें स्वच्छंद रूप से अधिक से अधिक 'क्रियायें' करने की सुविधा मिलनी चाहिए। प्रकृति के प्रांगण मे होनेवाले परिवर्तनों का सुचारु रूप से अध्ययन कराना, बालकों के लिए हितकर है। प्रो० आर्मस्ट्राँग ने "वैज्ञानिक-विधि की शिक्षा" लेख में, लिखा है कि "आँखों और हाथों"-वैज्ञानिक विधि—का प्रयोग, श्यामपट और खड़िया मिट्टी या भाषणों

या प्रदर्शनों से नहीं सिखाया जा सकता। इसके लिए प्रत्येक बालक से अपनी आँखों और हाथों का प्रयोग, बार बार कराने का अभ्यास प्रारंभकाल से ही कराना चाहिए। हो सकता है कि इस विधि से पढ़ाने में अधिक समय लगे और शक्ति भी खर्च हो परन्तु इससे होनेवाले अमूल्य लाभ से कौन इनकार कर सकता है। बालकों को यह विधि पसंद आती है और इससे वे अधिक सीख सकते हैं।

प्रसिद्ध अन्वेषक प्रीस्टले (Priestley) ने अपनी एक कृति की भूमिका में लिखा है कि यदि हम चाहते हैं कि हमारे बालकों में तत्वज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न हो, तो हमें बचपन से ही प्रयोग और शोध के कार्य उन्हें करके दिखाना चाहिए। उन्हें शोध-कार्य के सिद्धांतों और व्यवहार का प्रारंभिक ज्ञान कराना आवश्यक है जिसके द्वारा वह पुरानी शोधों को स्वयं इस प्रकार करें कि उसे वह अपनी खोज समझें। तभी उन्हें इसका सच्चा ज्ञान प्राप्त होगा। प्रीस्टले के इस कथन में प्रो० आर्म-स्टांग को अपनी स्वयंज्ञान-विधि के सूत्र मिले, जिसे उन्होंने अपने लेख—"प्रधानाध्यापकों से एक निवेदन"—में उद्धृत किया है। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार मनुष्य जीवन में कोई कार्य पूरा करने का भार लेता है और उस संबंध में आनेवाली कठिनाइयों और सुविधाओं का ज्ञान उसे यों ही प्राप्त हो जाता है, उसी तरह विद्यार्थियों के सामने कक्षा में कोई समस्या रख देनी चाहिए और उसे हल करने का समय नियुक्त कर दिया जाय। यह समस्या ऐसी हो, जिसमें प्रयोगों की आवश्यकता पड़े। इस सम्बन्ध में वह स्वयं लिखे और प्रयोगशाला में अध्यापक से सहायता भी प्राप्त करे। प्रयोग पूरा हो जाने के बाद, नियम निर्धारित कराने पर विशेष ध्यान दिया जाय। इस संबंध में, गणित, फोटोग्राफी, चित्रलेखन आदि विषय पढ़ाये जा सकते हैं। कई अध्यापकों को इसमें हाथ बँटाना आवश्यक होगा। संक्षेप में इस विधि में अनुभव द्वारा पढ़ाई करने पर विशेष जोर दिया जाय। प्रोफेसर महोदय ने अपनी योजना विद्वानों के समक्ष रक्खी और ब्रिटिश

एसोसियेशन में उपस्थित विद्वानों ने यह मत प्रकट किया कि इस विधि से कई लाभ होंगे, जैसेः—

बालकों को पर्यवेक्षण करने, तथ्य-संग्रह करने, आगमन और निगमन विधि से तर्क करने तथा शुद्ध भाषा मे विचार प्रकट करने का अभ्यास हो जायगा। वैज्ञानिक विधि से पढ़ाने मे, बालको की अध्ययन-रुचि विकसित होती है। वर्तमान काल में, विज्ञान का चिंतन जगत् पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। यदि बालक वैज्ञानिक विधि से परिचित हो जाते है, तो जीवन में उन्हें बड़ी सहायता मिलती है। विज्ञान का साधारण ज्ञान भी, मनुष्य को बौद्धिक सुख पहुँचाता है। आदि

स्वयंज्ञान-विधि का मूल तत्व यह है कि बालक एक अन्वेषक की भाँति अध्ययन करते हुए ज्ञान प्राप्त करे, परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इस विधि से पढ़ाई निरुद्देश्य हो। बालकों को प्रत्येक कार्य सुचारु रूप से करना पड़ता है और इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि वे प्रत्येक कार्य मे निपुणता प्राप्त करें।

(ग) *स्वतंत्रता का सिद्धांत*—'मांटेसरी' और 'फ्रोबेल' की भाँति, प्रो० आर्मस्ट्राँग ने भी बालकों की स्वतंत्रता का समर्थन किया है। उन्हें नियंत्रण में रखकर, स्वयं-ज्ञानविधि से नहीं पढ़ाया जा सकता। हमें यह मानना पड़ेगा कि बालक विचारशील होते है और अनुभव द्वारा ज्ञान प्राप्त करने में वे समर्थ है। बालक स्वभाव से अनियंत्रित घोड़े की तरह, बंधन मे रहकर काम करना पसंद नहीं करते। उनकी इस प्रवृत्ति का दमन करना अनुचित है।

(घ) *"प्रकृति-पर्यवेक्षण" का सिद्धांत*—'मांटेसरी' और 'फ्रोबेल' दोनो शिक्षाचार्यों ने बालक और प्रकृति का संबंध जोड़ने पर जोर दिया था परन्तु उनका दृष्टिकोण केवल दार्शनिक था। प्रकृति के सम्पर्क से मनुष्य को ईश्वर का बोध होता है और उसके मन में सात्विक भाव उदय होते है; इसलिये प्रकृति-पर्यवेक्षण बालकों की पढ़ाई का

अंग माना जाना चाहिए। प्रो० आर्मस्ट्रॉंग का दृष्टिकोण भिन्न है। प्रकृति के निरीक्षण से ही विज्ञान का जन्म हुआ है। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था—"जब तक प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य ने विजय नहीं पायी थी, प्रकृति की अवहेलना की जा सकती थी।........आज वह बात नहीं रही है। प्रकृति के प्रांगण में होनेवाले संघर्ष (Struggle) के सिद्धांत से हमें बहुत-कुछ सीखना है। यदि आज के सामाजिक संघर्ष में हमें विजयी होना है, तो हमें प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिए। दूसरे, नयी-नयी खोजों से मनुष्य की ज्ञान-पिपासा बढ़ती जा रही है परन्तु कुछ लोगों को ही उसे शांत करने की सुविधा प्राप्त है। प्रकृति-संबंधी ज्ञान हर एक को सुलभ होना चाहिए।" इसके अतिरिक्त मनुष्य की वर्तमान सभ्यता का मूल आधार वह शक्ति (Energy) है जिसे उसने प्रकृति से प्राप्त किया है। जल, वायु, भाप, बिजली, पेट्रोल और परमाणु आदि शक्तियाँ प्रकृति के गर्भ में छिपी पड़ी थीं। मनुष्य ने प्रकृति का अध्ययन करके ही, इन्हे प्राप्त किया है। प्रकृति शक्तियों का अनंत भंडार है, उसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अतः बालकों में प्रकृति-पर्यवेक्षण की अभिरुचि हर प्रकार से उत्पन्न करना, शिक्षा का पुनीत कर्तव्य है।

(घ) *मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि*—बालको की समस्त स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उपयोग करना, स्वयंज्ञान-विधि का मूल उद्देश्य है। 'जिज्ञासा', 'कल्पना', 'क्रिया' 'विचारशक्ति', 'भाव' आदि मानसिक शक्तियों को उत्तेजन प्राप्त कराने में इस विधि द्वारा सहायता मिलती है। 'स्वयं करके सीखना' ही शिक्षण का मुख्य आधार होना चाहिए और वही इस विधि का आधार है। प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग ने सभी ज्ञात मनोवैज्ञानिक तत्वों का अपनी विधि में समावेश किया है।

(ङ) *आयु का प्रश्न*—'स्वयं-ज्ञान-विधि' से पढ़ने का अभ्यास बचपन से ही कराना उपयोगी है। इसका कारण यह है कि यदि

प्रारम्भ में आँख बन्द करके शिक्षा ग्रहण करने की आदत पड़ गई, तो बालक इस प्रयोगात्मक विधि को कभी भी न अपनायेंगे। अतः प्रारम्भ में ही, इसका प्रयोग करके, बालकों में वैज्ञानिक अभिरुचि जाग्रत कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बड़ी आयु के विद्यार्थी भी इसका प्रयोग कर सकते है। वास्तव मे यह विधि इतनी स्वाभाविक है, कि मनुष्य अपने दैनिक जीवन में भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए, जब चाहे, इसे प्रयोग में ला सकता है।

(च) *विशेष प्रकार का अध्यापक*—स्वयंज्ञान-विधि द्वारा शिक्षण में, बालकों को अपने आप ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है, परन्तु इससे अध्यापक का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता। वास्तव में, इस विधि की सफलता बहुत-कुछ अध्यापक पर निर्भर है। 'पचीस वर्ष बाद'—लेख में, आर्मस्ट्रॉंग ने लिखा है कि पुराने ढंग के अध्यापक प्रायः निर्धन, निरुत्साहित, कल्पनाहीन और व्यक्तित्वहीन होते है। विद्वान होने पर भी, उनमें ऐसे गुणों का अभाव होता है, जो इस विधि को सफल बनाने के लिए आवश्यक है। इसके लिए ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है, जो उत्साही हों, और साहस के साथ-साथ, जिनका बुद्धि-स्तर ऊँचा हो। प्रोफेसर महोदय ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि तोते की तरह रटाई करानेवाला अध्यापक किसी काम का नहीं होता। उसे तो छात्रों का पथप्रदर्शक और मित्र होना चाहिए। दोनों के बीच गहरी सहानुभूति होना उचित है। बालकों को हर समय आज्ञा देते रहना अनुचित है। अध्यापक को कभी-कभी बड़े आत्म-संयम से काम लेना पड़ता है। बालक जिस विषय पर प्रयोग करते है, अध्यापक उसका परिणाम पहले से जानता है, परन्तु वह बड़े संयम के साथ, चुप रहता है और बालकों को निष्कर्ष निकालने देता है।

प्रोफेसर आर्मस्ट्रॉंग ने, इस विधि से पढ़ाने के लिए स्त्री-शिक्षकों को अनुपयुक्त बताया है। छोटे बालकों को पढ़ाने के लिए, 'मांटेसरी' और 'फ्रोबेल' की विधियों में, स्त्री-शिक्षकों को अधिक उपयुक्त बताया

गया है। इस छोटी अवस्था में बच्चों को स्नेह की आवश्यक्ता रहती है। पुरुष का स्वभाव स्त्री की भाँति कोमल नही होता। पुरुष-स्वभाव बालकों को पढ़ाने में, घातक है। इसलिए 'किंडरगार्टेन' और 'मांटेसरी' स्कूलों मे स्त्री-अध्यापकों को स्थान दिया जाता है। दूसरे 'व्यापार' और 'उद्योग' की वृद्धि के कारण, पुरुषों का ध्यान अध्यापन-कार्य की ओर अधिक नही जाता है। पुरुष अध्यापन-कार्य अधिक पसंद नहीं करते। (भारत मे नही, ऐसा केवल अन्य देशों में ही होता है।) स्त्रियाँ ही अध्यापन-कार्य को अधिक संख्या मे अपनाती है। स्वयं-ज्ञान-विधि के लिए स्त्री-अध्यापक अनुपयुक्त है। कारण यह है कि स्त्रियों में सभी गुण होते हुए भी तो एक बहुत बड़े गुण—**मौलिकता**—का अभाव होता है। इस स्वयंज्ञान-विधि में मौलिक चिंतन और मौलिक क्रिया पर ही सारी शिक्षा निर्भर होती है। यह गुण पुरुषो में अधिक मिलता है। इसलिये, इस विधि से पढ़ाने के लिए पुरुषो को ही चुनना चाहिए। वही सफलता पूर्वक, इस उत्तरदायित्व का वहन कर सकते है।

स्वयं-ज्ञान विधि पर प्रो० आर्मस्ट्रांग के प्रारम्भिक प्रयोग—प्रोफेसर आर्मस्ट्रांग ने अपने एक लेख, "शिक्षण की स्वयंज्ञान-विधि" (The Heuristic Method of Teaching) में, अपने अनुभवों और प्रयोगो का विवरण दिया है, जिनकी सहायता से अंत में आपने स्वयंज्ञान-विधि का निर्माण किया है। आपने उसके नामकरण के लिए एक अपरिचित शब्द ग्रीक-भाषा से चुना। अपने इस शब्द को प्रो० मीकले जान (Meiklejohn) की किसी कृति को पढ़ते समय पसंद किया। उक्त प्रोफेसर ने अपनी कृति में लिखा है कि शिक्षण की सर्वोत्तम विधि वह है, जिससे पढ़ने में बालक अपने आपको अन्वेषक समझे। कम से कम वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई के लिए तो यह विधि सर्वश्रेष्ठ है। आर्मस्ट्रांग ने इस कथन के सत्य का अनुभव स्वयं अपने विद्यार्थी जीवन में किया। अध्यापक होने के बाद आप बारबार इस विधि को

सुचारू रूप देते रहे। अंत में आप अपनी विधि की रूपरेखा स्थिर करने में सफल हुए।

अपनी विधि का निर्माण करने में, आर्मस्ट्राँग ने स्काउटिंग आंदोलन (Boy Scout's Movement) से भी प्रेरणा ग्रहण की थी। "प्रधानाध्यापकों से एक निवेदन", लेख में आपने लिखा है कि "शिक्षण-कार्य के मुख्य सूत्र हमें बेडेन पावेल (Baden Powell) की पुस्तकों में मिल सकते है। एक स्काउट के लिए, साहस, निर्णय, आत्मनिर्भरता और पर्यवेक्षण आदि जिन गुणों की आवश्यकता बताई गई है, और स्काउटिंग द्वारा बालकों में जो गुण उत्पन्न होते है, वही गुण स्वयंज्ञान विधि द्वारा अध्यापन से उत्पन्न किये जा सकते है। अतः प्रो० आर्मस्ट्रांग ने अपनी विधि में स्काउटिंग के मुख्य तत्व निःसंकोच भाव से अपनाये हैं।

स्वयंज्ञान-विधि की रूपरेखा

(१) इस विधि के लिए नये प्रकार के स्कूल-भवन और नयी व्यवस्था—अपने लेख, 'स्वयंज्ञानविधि' (The Heuristic Method) में, आर्मस्ट्रांग ने लिखा है कि स्कूल भवन के बनाने के सम्बन्ध में शिक्षाशास्त्रियों के सुझाव लेना आवश्यक है। यह काम केवल कारीगरों के हाथ में नहीं छोड़ देना चाहिए। स्कूल को प्रयोगशाला का रूप दे देना भी अनुचित है। प्रायः इस विधि के नाम से ही कारीगरों (Architects) के मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई है कि इस विधि से पढ़ाई के लिए प्रयोगशाला की तरह का भवन होना चाहिए। वास्तव में इतना अधिक आडम्बर बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। कक्षा में मामूली बेंचें होना चाहिए और पानी के नल तथा गैस के नल लगे होने चाहिएँ, परन्तु इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि बालक पानी का दुरुपयोग न करें। काँच के ट्यूब, गिलास, प्याले तथा अन्य सामग्री के रखने के लिए खुली अलमारियाँ काम दे सकती हैं। कमरा हवादार हो, ताकि गैस आदि की दुर्गंध इकट्ठा न हो। अध्यापक,

को प्रयोग दिखाने के लिए अलग एक बड़ी मेज रखनी चाहिए। हरएक बालक की मेज़ के पीछे दीवार पर छोटे-छोटे श्यामपट लगे रहने चाहिए। जिन पर मौक़ा पड़ने पर लिखा जा सके। प्रयोग के लिए आपरेटस् (Apparatus) स्वयं तैयार करने के लिए सारे औज़ारों, जैसे हथौड़ा, निहाई, रेती, आरी के साथ-साथ भट्टी का भी, प्रबन्ध होना जरूरी है। नाप तौल के लिये, तराजू, पटरी, T की शक्ल का मापक, साथ रहना चाहिये। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण तराज़ू है। तोलने का काम हर समय पड़ता है, इसलिए छोटे-बड़े बढ़िया किस्म के तराजू, प्रयोग के लिए, रखना चाहिए। संक्षेप में स्कूल एक छोटी वर्कशाप या कारखाना होना चाहिए जिसमें बालकों को वास्तविक जीवन के चित्र देखने को मिलें। "स्कूल मे वर्कशाप" (Workshop in the School) लेख में प्रो० आर्मस्ट्रांग ने इसी बात पर अधिक ज़ोर दिया है। स्कूल को 'वर्कशाप' का रूप देने में एक लाभ यह है कि बालकों को अपने भावी व्यवसायों में सुविधा होगी। भाप और बिजली के आविष्कार के बाद, हमें अपनी शिक्षा, का कार्यक्रम बदलना पड़ेगा। स्कूल मे फैक्ट्री की तरह काम होना चाहिए और बालकों को रचनात्मक कार्यो के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। बालक कोई भी वस्तु बनायें पर बनायें अवश्य। अध्यापक फोरमैन की तरह उनके कार्यो का निरीक्षण करता रहे।

इस विधि से शिक्षण के लिए, स्कूल-भवन की आवश्यकता अवश्य है, परन्तु इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि पढ़ाई का सारा काम बन्द कमरों में नहीं हो सकता। अन्वेषण का बहुत-सा काम स्कूल के बाहर होता है। बालकों को प्रकृति का पर्यवेक्षण कराना आवश्यक है। साथ ही साथ स्कूल की हद के भीतर प्राकृतिक वातावरण कायम रखना चाहिये। शहरी जीवन, जो 'फैक्ट्री' से उत्पन्न हुआ है, प्रकृति की खोजों की देन है, इसलिए प्रकृति की ओर से शिक्षा का उदासीन होना हानिकारक है।

पाठ्य-पुस्तकों के संबंध में—इस विषय पर हम स्वयं कुछ न लिखकर प्रो० आर्मस्ट्राँग के विचार उन्हीं के शब्दों में उद्धृत करते हैं:—

"यह कहना अनावश्यक है कि स्कूलों में प्रायोगिक विज्ञान की पढ़ाई के लिए पुस्तकों का प्रयोग करना ही नहीं चाहिये—हरएक विद्यार्थी को अपनी एक पुस्तक स्वयं लिख लेना चाहिए; उसे सरल भाषा में लिखनी चाहिये ताकि घर के लोग भी इसे पढ़ लें और यह समझ लें कि अमुक वस्तु की जानकारी कैसे प्राप्त की गई और उसे कैसे पूरा किया गया। आजकल हजारों की संख्या में पाठ्य-पुस्तकें प्रकाशित की जा रही है और उनके प्रयोग से भीषण हानि हो रही है।"

(Central Motive in Schools से)

"इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं बालकों की प्रयोगों द्वारा परिणाम निकालने की रुचि पढ़ने से नष्ट न हो जाय। प्रारम्भिक दशा में पुस्तकों के प्रयोग से बचना चाहिये, ताकि जो ज्ञान प्रयोग द्वारा प्राप्त हो सकता है, पहले से ही बालकों को न मालूम हो जाय (पुस्तकों द्वारा)—जो वास्तव में शिक्षण की दृष्टि से विचार उत्पन्न करने की, सबसे बुरी विधि है।"

(B. A. Address से)

"पुराने ज़माने में कविताएँ और गीत आदि इसलिए रटाये जाते थे कि उन्हें लिखा नहीं जा सकता था। (लिखने की भाषा के अभाव के कारण) पाठ्य-पुस्तकों को हटाने में वही पुरानी प्रवृत्ति दिखाई देती है। क्या उसे कायम रखना उचित है ?......आजकल स्कूलों में, बालक-बालिकाओं को केवल यांत्रिक ढंग से पढ़ना सिखाया जाता है। पुस्तकों में भरा हुआ ज्ञानरूपी अत्यंत गरिष्ठ भोजन करते-करते, बालकों की पाचन शक्ति इतनी निर्बल हो जाती है कि उसका इलाज ही नहीं हो सकता। आधुनिक पाठ्य-पुस्तकें और प्राइमर-पुस्तकें शत्रुओं की रचनाएँ है, जिनका उद्देश्य स्वयं-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति को नष्ट

करना है। हम वास्तव में, यह अनुभव भी नहीं करते कि जिस प्रकार मशीन के आविर्भाव से हाथ के कारीगर नष्ट हो गये, उसी तरह पुस्तकों के चलन से 'विद्यार्थी' नष्ट हो गया।"

(Need of Practical Studies से)

प्रोफेसर आर्मस्ट्राँग का कथन है कि स्कूलों में, लिखने, पढ़ने और गणित के साथ-साथ, तर्क करने की पढ़ाई करना उचित है। बालकों को स्वयं उन बातों का पर्यवेक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, जो पुस्तकों में लिखी होती है। यह ठीक है कि पुस्तकों में जो लिखा होता है, वह आकर्षक होता है, परन्तु वह इतने विशेष ढंग से (Technical) लिखा होता है कि बालक उसे समझ नहीं पाते। यदि पुस्तकों का प्रयोग भी किया जाय, तो पुस्तकें ऐसी होनी चाहिएँ जिनमें तमाम देशों, वहाँ के निवासियों और उनके रहन-सहन का वर्णन बड़ी ही सरल और बोधगम्य भाषा में लिखा हो। प्रोफेसर महोदय ने पढ़ाई के लिये बेडेनपावेल की Aids to Scouting या डारविन (Darwin) की Origin of Species, जैसी पुस्तकें पाठ्यक्रम में रखने की सलाह दी है।

समय-चक्र (Time-Table) *का अभाव*—स्वयंज्ञान - विधि की पढ़ाई समयचक्र के बंधन में नहीं हो सकती। समयचक्र अस्वाभाविक भी है, क्योंकि दुनिया के दूसरे सारे काम घंटों में बाँट कर नहीं किये जाते। वे जब चाहे काम करें और जब चाहें काम न करें। प्रयोगादि में परिणाम निकालने के लिए एक निश्चित अवधि नहीं कायम की जा सकती। बहुत से काम स्कूल के बाहर करने पड़ते हैं। इसलिए इस विधि के लिए समयचक्र का आयोजन किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं सिद्ध हो सकता।

स्वयंज्ञान विधि में पाठ-विस्तार—(Presentation of Lesson)—

(क) *पर्यवेक्षण*—पाठ का प्रारम्भ किसी समस्या(Problem) को लेकर होना चाहिए ताकि बालकों को अध्ययन में रुचि हो। वे यह न

अनुभव करें कि उन्हें पढ़ने के लिए मजबूर किया जा रहा है। उस समस्या के सम्बन्ध में, स्कूल से बाहर, बहुत-कुछ निरीक्षण करने की आवश्यकता होती है। यदि खेती की समस्या है, तो बालकों को निरीक्षण के लिए खेतों में ले जाना चाहिए। पौधे की जड़, पत्ती, फूल, बीज; मिट्टी, खाद, और पानी आदि का बड़ी बारीकी से उन्हें पर्यवेक्षण करना चाहिए। यदि भूगोल की समस्या है, तो बालक अपने जिले भर में घूम-घूमकर, वहाँ के वृक्षों, टीलों, नालों, नदियों, पशुओं और पक्षियों का ध्यान से अध्ययन करें। आवश्यकता पड़े, तो नक्शे साथ ले जायँ, उनसे तुलना करें और अपने नक्शे स्वयं तैयार करें। अच्छा तो यह होगा कि वे पहले नक्शा न देखें और अपना नक्शा स्वयं बनाकर, स्कूल में आने पर, छपे हुए नक्शे से तुलना करें।

(ख) *विचारोत्पत्ति*—पर्यवेक्षण करने के बाद, हर एक लक्ष्य को ठीक ठीक अंकित कर लेना चाहिए। उसने तुलना और विचार में सहायता मिलती है। फिर प्रत्येक वस्तु का मानव-जीवन में क्या महत्व है, उसके अभाव को किसी दूसरी वस्तु से पूरा किया जा सकता है या नहीं, आदि ऐसी समस्यायें है, जिन पर बालकों को विचार करने के लिए छोड़ देना चाहिए। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यदि बालक किसी समस्या की गंभीरता समझ गये, तो वे अपनी शक्ति भर आविष्कार करने का प्रयत्न करेंगे। उदाहरण के लिए, कोयले की समस्या लीजिये। कोयला, हमारे औद्योगिक-जीवन का प्रधान आधार है। सारे कल-कारखाने इसी की शक्ति से चलते हैं। एक दिन जब कोयला समाप्त हो जायगा, तो क्या होगा? यह गंभीर समस्या सोचने के लिये बाध्य करती है। बस, इसीसे मनुष्य का ध्यान पेट्रोल या परमाणु शक्ति की ओर गया। बालकों का भी ध्यान इसी तरह से आविष्कारों और अनुसंधानों की ओर जायगा। बालक विचार करेंगे। गृह-विज्ञान, पाकविज्ञान आदि भोजन की समस्या से उत्पन्न हुए है। अतः 'भोजन' का विषय ऐसा है, जिससे बालिकाओं में विज्ञान के प्रति अभिरुचि जाग्रत की जा सकती है।

का ज्ञान कराना आवश्यक है। इससे आगे चल कर 'मात्रा' का ज्ञान उन्हें आसानी से हो जाता है।

आलोचना

स्वयंज्ञान-विधि इतनी स्वाभाविक है, कि इसे चमत्कार के रूप में लेना उचित न होगा। प्रारंभ में मनुष्य ने ज्ञानार्जन करना इसी विधि से प्रारंभ किया होगा। हाँ, इसको व्यवस्थित रूप देने के श्रेय प्रो० आर्मस्टाँग को अवश्य है। इस विधि के प्रयोग के कुछ प्रमाण हमें भारतीय इतिहास में भी मिलते है। तक्षशिला विश्वविद्यालय के एक छात्र जीवक ने चिकित्सा-शास्त्र पर, इसी विधि द्वारा खोज की थी। उसने लगभग पन्द्रह कोस के घेरे में उत्पन्न होने वाली बनौषधियों का अन्वेषण करके उनके गुण-दोषों की मीमांसा की थी। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसमें कोई नयी बात नहीं है। यह बहुत-कुछ योजना विधि से मिलती-जुलती है। प्रारम्भ में 'समस्या' के होने आर प्रक्रिया में, पर्यवेक्षण, तुलना और निष्कर्ष आदि निकालने मे यह विधि, योजना-विधि से मिलती है। क्रिया द्वारा शिक्षा के सिद्धान्त का इसमें समावेश हुआ है। 'स्वशिक्षा का सिद्धांत' भी इसकी प्रमुख विशेषता है, नया नहीं है। 'माँटेसरी' और 'किंडरगार्टेन' विधियों में स्वशिक्षा का आयोजन बहुत पहले किया जा चुका है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई के लिये स्वयंज्ञान-विधि उपयोगी है। इस विधि के प्रयोग से बचपन में ही बालकों का ऐसा दृष्टिकोण बन जाता है कि वे भविष्य में अच्छे वैज्ञानिक बन सकते है। बालकों को वही संतोष और आनन्द प्राप्त होता है, जो गलीलियो या न्यूटन को अपने अन्वेषणों में मिला होगा। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों में इसी विधि का प्रयोग किया है। इस विधि में, बालकों को प्रयत्न और भूल (Trial and error) के सिद्धान्त द्वारा सीखना पड़ता है परन्तु इसमें अध्यापक की सहायता

परोक्षरूप से मिलती रहती है। स्वप्रयत्न और परीक्षण द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है। साथ ही वह उपयोगी होता है। पुस्तकों द्वारा प्राप्त ज्ञान निष्क्रिय होता है, उसे शायद ही कोई विद्यार्थी-जीवन में प्रयुक्त करता हो। सबसे बड़ी बात यह है कि बालक भावी-जीवन सामाजिक संघर्ष में सफल होने योग्य बन जाते हैं।

इस विधि की त्रुटियाँ स्पष्ट है। यह ठीक है कि प्राचीन विषय और प्राचीन शिक्षण-विधि, आज की भौतिक समस्या के प्रतिकूल हैं परन्तु हम उन्हें समूल नष्ट तो नहीं कर सकते। मनुष्य के वर्तमान का अतीत से बहुत बड़ा संबंध है। अतः साहित्य, दर्शन और धर्म, हमारे लिए आवश्यक बने रहेंगे। शिक्षा के क्षेत्र से उनका बहिष्कार नहीं किया जा सकता। यदि प्राचीन विधि, वैज्ञानिक विषयों के लिए अनुपयुक्त है, तो यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि यह नवीन विधि प्राचीन विषयों को पढ़ाने के लिए उतनी ही अनुपयुक्त है। प्रोफेसर आर्मस्ट्राँग ने यद्यपि इस विधि का प्रयोग साहित्यिक विषयों की पढ़ाई, में, करने पर जोर दिया है और कहा भी है कि बे विषय इस विधि से पढ़ाये जा सकते है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनका कथन युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। साहित्य, धर्म, दर्शन और गणित को प्रयोगात्मक ढंग से पढ़ाना संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि इस विधि से एक साधारण सिद्धांत को पढ़ाने में बहुत अधिक समय लगता है। मानव-जीवन इतना अल्प है, ज्ञान का भंडार इतना असीम, और यह विधि इतनी लम्बी है, कि शिक्षा का वास्तविक अर्थ ही नष्ट हो जाता है। न्यूटन या एडीसन को जिस तथ्य की खोज में जीवन भर लगा रहना पड़ा, उसकी शिक्षा यदि बालक को स्वयंज्ञान-विधि से दी जाय तो उसका सारा बहुमूल्य जीवन एक तथ्य के सीखने में नष्ट हो जायगा, वह आविष्कारक बनने की पूरी दीक्षा प्राप्त कर चुकने के बाद, कुछ भी कर सकने में असमर्थ पावेगा। ज्ञात तथ्यों को बताने की सीधी-सीधी विधि होनी चाहिए, जिसमें कम समय लगे। स्वयंज्ञान-विधि की भूलभुलैया में पड़कर बालक की अपार

क्षति होगी। व्यावहारिकता की दृष्टि से तीसरा दोष यह है कि इस विधि से केवल चुने हुए कुशाग्र बुद्धिवाले विद्यार्थी ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह कैसे सम्भव है कि जिन आविष्कारों और शोधों को कर सकने में न्यूटन जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति सफल हो सके है, उन्हें साधारण बुद्धि-वाले बालक अपने आप कर सकेंगे। यह विधि व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धांत का अतिक्रमण करती है। जो बालक समान रूप से इसमें रुचि नहीं ले सकते, उनका मन थोड़े ही दिनों में ऊब जायगा। साथ ही इसमें निष्कर्ष निकालने में बहुत अधिक समय लगता है, परिश्रम का फल देर में मिलने पर उसका आनन्द नष्ट हो जाता है। बहुत से विद्या-र्थियों की रुचि बीच में ही नष्ट हो सकती है और वे बीच में ही पढ़ना बंद कर सकते हैं। कुछ विद्यार्थी ऐसे भी हो सकते है, जो अपने आप निष्कर्ष निकालने में असमर्थ रहें। ऐसी दशा में उन्हें घोर निराशा होगी, जो उनके व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव डालेगी। इस विधि से पढ़ाने के लिए उतने उत्साही और योग्य अध्यापक प्राप्त करना, उसके अनुकूल स्कूल-भवनों का निर्माण कराना और सारी सामग्री इकट्ठा करना आदि सरल काम नहीं है। इन सबके लिए बहुत धन चाहिये। भारत जैसे निर्धन देश के लिए यह विधि बड़ी मँहगी है।

खेल द्वारा शिक्षण (Playway method)

प्राचीनकाल से लेकर अब तक 'खेलकूद' को बुरी दृष्टि से देखा जाता रहा है। आज भी बूढ़े लोग बच्चों को यह कहावत सुनाते हुए पाये जाते है "पढ़ोगे-लिखोगे, होगे नवाब, खेलोगे-कूदोगे, होगे खराब।" प्रायः लोगों ने यह धारणा बना रक्खी है कि खेलने से लड़के बिगड़ जाते हैं। 'पढ़ना' और 'खेलना, दो अलग-अलग और विरोधी बातें । आज शिक्षा में जो क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे है, उनके परिणाम स्वरूप 'खेल' का महत्व बढ़ता जा रहा है। पढ़ने के साथ-साथ खेल क उतना ही महत्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है जितना पुस्तक को। कुछ शिक्षाचार्यो ने, तो खेल को पढ़ाई का माध्यम मानने की सलाह

दे डाली है और अब तो एक ऐसी शिक्षण-विधि का जन्म हो गया है, जिसके द्वारा बालक खेल के सहारे पढ़ते हैं।

फ्रोबेल ने अपनी शिक्षण-विधि में, खेलों का समावेश किया है। खेल द्वारा बालक के शरीर और मन मे स्फूर्ति उत्पन्न होती है। खेल की क्रिया द्वारा बालक को आनंद प्राप्त होता है। फ्रोबेल ने खेलों का समर्थन इसलिए किया कि खेल द्वारा आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान बालकों को प्राप्त हो जाता है। मेरिया मांटेसरी ने भी 'खेल' को इंद्रिय-शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। वर्तमान शताब्दी में मनोवैज्ञानिक खोजों ने, 'खेल' की उपयोगिता सिद्ध कर दी है और खेल के संबंध में कई सिद्धांत (Theories of Play) निर्धारित हो गये है। इस प्रसंग मे उनका संक्षिप्त विवरण अपेक्षित है।

(१) *'अनावश्यक शक्ति' का सिद्धांत*—(Superfluous Energy Theory)—भाप के इंजन में हर समय शक्ति तैय्यार होती रहती है। यदि वह शक्ति इंजन में भर दी जाय तो, इंजन के फट जाने का भय है। इसलिये इंजन में एक ऐसा स्वसंचालित ढक्कन लगा होता है, जो भाप के बढ़ने पर अपने आप हट जाता है और अनावश्यक भाप को निकल जाने देता है। उसी तरह बालकों में अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होती रहती है। उन्हें कोई भी भारी शारीरिक या मानसिक कार्य नहीं करना पड़ता। ऐसी स्थिति में 'खेल' ही एक ऐसा साधन है, जिसमें उनकी संचित शक्ति व्यय होती है और वे स्वस्थ बने रहते है। बालकों के स्वास्थ्य के लिए खेल बहुत जरूरी है। इसे 'अनावश्यक शक्ति' का सिद्धांत कहते है। हरबर्ट स्पेंसर ने इस सिद्धात की रचना की है।

(२) *'पुनरावृत्ति' का सिद्धांत*—(Recapitulatory Theory)

स्टैनले हाल (Stanley Hall) नामक विद्वान ने बालकों के खेल को इसलिए महत्वपूर्ण बताया कि खेल के द्वारा हमें उनके मानसिक

विकास का अन्दाजा मिलता है मानव-जाति ने अपने विकास-काल में जिन-जिन चरणों को पार किया है उन्हीं को प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में दुहराता है। बाल्यकाल के स्वाभाविक खेलों में हमें, आदिम मनुष्य की क्रियायें देखने को मिलती है। जिस प्रकार आदिम मनुष्य खानाबदोश था, निरुद्देश्य इधर-उधर मारा-मारा फिरता था, उसकी ध्वंसात्नक-प्रवृत्ति प्रबल थी, उसी प्रकार बालक घूमा करते है और तोड़ फोड़ करने में अत्यधिक आनंद प्राप्त करते है। अतः बालकों की पढ़ाई का आधार, उनके वैकासिक नियमों के आधार पर होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि खेल, बालक के मानसिक विकास के अनुकूल एक ऐसा सामाजिक माध्यम है जिसके द्वारा बालकों को शिक्षा दी जानी चाहिये

'पूर्वाभास' का सिद्धांत(Anticipatory Theory)—कालग्रूस (Karl Groose) का कथन 'हाल' के कथन से विपरीत है। उसका कहना है कि खेल, बालक के भावी जीवन का पूर्वाभास देते है। खेलों के द्वारा ज्ञान होता है कि अमुक बालक भविष्य में क्या बनने जा रहा है। खेल भावी जीवन की तैयारी है। महान पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने के बाद इस सिद्धांत की सत्यता बहुत-कुछ अंशों में सिद्ध हो जाती है। चंद्रगुप्त अपने बाल्यकाल में पशुओं को चराते हुए, अपने साथियों के साथ राजा का अभिनय किया करता था। विश्वविख्यात जलसेनानायक नेलसन भी बचपन में जहाजों के मॉडेल बनाकर खेलता था। इसलिये बालकों को खेलने से मना करना अनुचित है। बालक को, यदि किसी खेल में अत्यधिक रुचि हो, तो उससे, उसकी शिक्षा में लाभ उठाना उचित है।

'रेचन' का सिद्धांत—(Cathartic Theory)—जिस प्रकार औषधि खाकर जुलाब द्वारा, रोगी का पेट साफ हो जाता है, उसी प्रकार खेल द्वारा बालकों की भावात्मक उत्तेजना (Emotional Tension) और आवेग को शांत होने का अवसर मिलता है। यदि

खेल न हों, तो बालकों को शांति न मिलें और उनका मानसिक संतुलन बिगड़ जाय। पढ़ाई में खेल का समावेश, इस दृष्टि से आवश्यक है।

उपर्युक्त सिद्धांतों द्वारा खेलों का महत्व बढ़ा। यह सिद्धांत जिन तर्कों पर आधारित है, वे बहुत-कुछ अनुमान द्वारा स्थिर किये गये हैं। पढ़ने और सुनने में वे आकर्षक जरूर मालूम पड़ते है परन्तु वैज्ञानिक ढंग से उन्हे सिद्ध करना संभव नहीं है। इनसे इतना लाभ अवश्य हुआ कि खेल के प्रति शिक्षा-शास्त्रियों का दृष्टिकोण बदल गया। जॉन डिवी ने आगे चलकर खेलों का मनोवैज्ञानिक महत्व निर्धारित किया। इस सम्बन्ध में उनके विचार उल्लेखनीय है।

'खेल' पर डिवी के विचार—डिवी ने अपनी पुस्तक, 'प्रजातंत्र और शिक्षा' में लिखा है कि 'फैकल्टी' (Faculty) पर विश्वास रखनेवाले मनोवैज्ञानिकों ने बौद्धिक विषयों और मानसिक कार्य का इतना अधिक सम्मान बढ़ा दिया कि शारीरिक कार्य को नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था। वे लोग 'खेल' को केवल एक शारीरिक क्रिया मानते थे और बौद्धिक कार्य के बाद, उसे केवल मनोरंजन के रूप में, ग्रहण करने की अनुमति देते थे। अब यह बात नहीं रही। इन्द्रिय-ज्ञान का महत्व बढ़ जाने से, और इंद्रियों की शिक्षा का चलन होने से, खेलों का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। पुराने समय में खेलों का महत्व इसलिये भी कम था कि लोग खेल को सीखने वाली क्रियाओं में स्थान नहीं देते थे। खेल तो एक ऐसा मामूली काम था, जिसे सीखने में कोई कठिनाई न होती थी। दूसरी ओर बौद्धिक विषय केवल स्कूल में और बड़े परिश्रम करने पर ही सीखे जा सकते थे। आज वह भी स्थिति बदल गई है। छापेखाने के आविष्कार ने पुस्तकों को हर एक मनुष्य के लिए सुलभ बना दिया है। यदि मनुष्य चाहे तो घर बैठे, शिक्षा प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर 'खेल' अब कला के

रूप में सम्मान पाने लगा है। यही कारण है कि शिक्षा के समस्त कार्यक्रम में खेलों के सम्मानपूर्ण स्थान मिल गया है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, खेलों के महत्व पर विचार कीजिये। खेल मे केवल शारीरिक क्रिया ही नही होती, वरन् मानसिक शक्ति का पूरा प्रयोग करना पड़ता है। खेल में, भविष्य के बारे में सोचना, योजना बनाना, ध्यान से लगकर योजना पूरा करने का प्रयत्न करना, खोज करना और वस्तुओं का सूक्ष्म अध्ययन करना आदि सभी प्रकार के मानसिक कार्य करने पड़ते है। इसके अतिरिक्त खेलों का सामाजिक और आर्थिक पहलू भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है।

खेल और शिक्षण—अब इस संबंध में प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री एक मत है कि शिक्षण में खेलों का प्रयोग होना चाहिए। 'खेल' के समावेश से शिक्षण का आकर्षण बढ़ जाता है। पढ़ाई जैसा नीरस कार्य, सरस, हृदयग्राही और मनोरंजक बन जाता है। खेल द्वारा शिक्षण के सबसे बड़े समर्थक कैल्डवेल कुक (H.Caldwell Cook) महोदय है। वे इस विधि के प्रशंसक हैं और उन्होने 'खेल-विधि (Play way) नामक पुस्तक लिखी है। अतः इस संबंध में उनके विचारों से अवगत होना आवश्यक है। उनके विचारों का सारांश हम नीचे देते हैं।

कैल्डवेल कुक के 'खेल द्वारा शिक्षण' के सिद्धांत

बालकों की पढ़ाई का स्वाभाविक साधन 'खेल' है। यदि किसी बालक या छोटे पशु को अकेले छोड़ दिया जाय, तो खेल द्वारा शिक्षण की प्रवृति हमें देखने को मिलेगी। 'खेल' का मूल्य इसलिए अधिक है कि, बालक जो कुछ सीखता है, उसका अभ्यास भी वह कर लेता है। मौखिक कथन द्वारा पढ़ाई निरर्थक है, या यदि इसका कुछ मूल्य है, तो यह कि वह खेल द्वारा प्राप्त शिक्षा की पूरक है। दूध का जला बालक ही मट्ठा फूक-फूक कर पीता है। यदि उसे पहले जबानी किसी चीज़ का दोष

बताया जाय, तो उसकी समझ में कभी नहीं आयेगा। खेल से सच्चा अनुभव प्राप्त होता है, और खेल द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थायी होता है।

खेल क्या है? खेल एक ऐसा नाटक है, जिसमें बालक वही पार्ट अदा करते है, जिसे उन्हें अपने बृहत् जीवन में निभाना है। प्रातःकाल जब बालक बिस्तर पर ही होता है, वह दिन भर के खेल की योजना बनाने लगता है। वस्तुओं से खेलने में, वह सच्चे जीवन का आनंद लेता है। इसे मनोवैज्ञानिकों ने 'मेक बिलीव' (Make believe) भाव कहा है। बालक एक छड़ी को अपनी टाँगों के बीच डालकर घसीटता है। वह उस छड़ी को घोड़ा मान लेता है और उसे छड़ी के सहारे वही आनंद प्राप्त होता है, जो एक वयस्क को घुड़सवारी में प्राप्त होता है। गुड़िया गुड्डों के खेल, योजना बनाने के खेल, और राजा-रानी के खेल, बालक को कल्पित जीवन का आनंद दिलाते है।

जब बालकों के लिए 'खेल' ही, जीवन है, तो स्कूलों में खेल की उपेक्षा क्यों की जाती है। खेल को 'हँसी' 'तुच्छ या 'बुरा' समझना बड़ी भूल है। खेल का एक पहलू गंभीर भी है। क्या खेल के अतिरिक्त और भी कोई ऐसा काम है जिसे बालक, इतने स्वाभाविक ढंग से, आजादी से, सच्चे मन से और अपने आप करते हों? खेल में, वे अपना उत्तरदायित्व जितनी इमानदारी से निभाते है, उतना फौज का सिपाही भी नहीं करता है। बात यह है कि जब बंधन होता है, तो मनुष्य का उत्साह मंद हो जाता है, वह पूरे दिल से काम नहीं करता। इसके विपरीत खेल एक ऐसी क्रिया है जिसे बालक बंधन के कारण नहीं करते; वे खेल केवल खेल के लिए खेलते है। अतः बालक की तुलना, केवल कवि या कलाकार से की जा सकती है। वह खेल में अपनी सारी शक्तियों का खुलकर प्रयोग करता है। खेल से बालकों को विरत करना उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न करना है। वास्तव में खेलों का महत्व कम करने में अध्यापकों का हाथ है। वे बालकों की रुचियों और स्वभाव का ध्यान करक अपने ढंग और विचार उन पर लादने का प्रयत्न करते है।

खेल और कार्य को अलग-अलग समझना अनुचित है। खेल भी एक काम है, जिसके द्वारा बालक जीवन बिताने की कला सीखता है। जिस प्रकार जीवन में, मनुष्य को आचरण-सम्बन्धी नियमों का पालन करना पड़ता है, उसी प्रकार खेल में भी आचरण और व्यवहार के लिये कुछ नियम निश्चित होते है। खेल में, न्याय, कर्तव्य-पालन, सच्चा प्रयत्न और सहयोग आदि गुणों की उसी तरह आवश्यकता पड़ती है, जिस तरह जीवन में। इसलिये खेल एक गंभीर कार्य है।

खेल द्वारा बालक को अपनी सहज प्रवृत्तियों और रुचियों का बोध होता है। ईश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को एक न एक विलक्षण गुण प्रदान किया है। यदि मनुष्य उसे पहचान सके और उसे ही विकसित कर डाले, तो एक दिन वह महानता के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है। यह गुण मनुष्य की सहज चित्रवृत्ति से उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सहज चित्तवृत्तियों का उद्गम 'हृदय' अधिक महत्वपूर्ण है। सच तो यह है कि मनुष्य 'हृदय' (Heart) के बल पर ही मनुष्य कहलाता है। यदि उसमें दया, करुणा, उल्लास और प्रम आदि के भावों का अभाव हो जाय तो, वह मनुष्य ही न रह जाय। जीवन में 'विवेक' और 'विचार' को जो इतना ऊँचा स्थान दिया गया है, उसका कारण यह है कि, इसके द्वारा चित्तवृत्तियों का संयम होता है, परन्तु हृदय ही प्रेरक शक्ति (Motive force) है, विचार या विवेक नहीं। विवेक तो केवल संतुलन बनाये रखता है। हृदय के गुणों को समुन्नत बनाने में खेलों का बहुत बड़ा योग होता है। आनन्द, हास्य, उल्लास, स्नेह तथा अन्य भावों का अनुभव खेलों द्वारा होता है, इसे सभी मुक्तकंठ से स्वीकार करते है।

, जीवन में 'वर्तमान' का उचित महत्व स्वीकार करना चाहिए। (यहाँ कुक और डिवी के विचारों मे समानता है) धर्मोपदेशकों ने और संयमप्रेमियों (Puritans) ने 'स्वर्ग', 'परलोक' आदि की कल्पना करके साधारण जनता को भुलाने में डाल दिया। सुखद भविष्य

की आशा में वतमान का बलिदान करना, एक आदर्श बन गया। क्या यह उचित है ? जो वर्तमान के सुख को खो देता है, वह सुखद भविष्य को पायेगा ? ऐसे मनुष्य के लिये 'स्वर्ग' आकाश-कुसुम मात्र है। 'वर्तमान का सुख' यदि अनुभव करना हो तो खेल खेलें। खेल द्वारा बालकों का वर्तमान जीवन सुखमय बनता है। खेलों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि बालक जो कुछ वर्तमान में करते है, उसमें आनन्द प्राप्त करना सीखते है। खेल, नीरस काम को भी रुचिकर और सुखमय बना देता है। अतः खेल द्वारा शिक्षण जरूरी है। खेल से शिक्षा प्राप्त करने में न केवल रुचि और आनंद का अनुभव होता है, वरन् बहुत से उपयोगी कार्य आसानी से हो जाते है।

स्कूलों में पुस्तकों की गुलामी क्यों प्रचलित है ? पुस्तकों में जो-कुछ ज्ञान भरा है, उसी को हम 'इति' समझ बैठे है। इससे हमारी हीनता प्रकट होती है। हम ऐसा अनुभव करते है, कि इससे आगे हम कुछ सोच ही नहीं सकते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि कोई ऐसी पुस्तक हाथ में आ जाती है, जिसमें नवीन विचार होते है; उसे हम बहुत पसंद करते है, परन्तु फिर भी मौलिकता का महत्व हमारी समझ में नहीं आता। पुस्तकों के समुद्र में गोते लगाते रहना, मनुष्य का अभ्यास हो गया है। हम अन्यायपूर्वक बालकों पर पुस्तकें लादते जाते हैं। पुस्तकों का वास्तविक महत्व केवल इतना है कि उनके रचयिताओं में सृजनात्मक शक्ति थी। घटनाओं के लेखे (record) के रूप में पुस्तक का कोई महत्व नहीं। पुस्तक मनुष्य की क्रिया को कुंठित करती है। इसके विपरीत मनुष्य को 'क्रिया' को खेल उत्तेजना प्रदान करते है। यह मानवीय क्रियायें ही 'जीवन' है। इन्हीं के सहारे जीवन बढ़ता और विकसित होता जा रहा है। इसलिये 'कर्मण्य शक्ति' (Power of action) को पुष्ट करना आवश्यक है। खेलों से यह शक्ति बढ़ती है।

पुस्तकों की पढ़ाई बालकों के स्वभाव के विपरीत है। बालक में अपूर्व शक्ति होती है, जिसके कारण वह चुपचाप बैठ नहीं सकता।

स्वभाव से वह जिज्ञासु तथा उत्सुक होता है, हर एक बात के बारे में वह जानना चाहता है। ऐसी दशा मे पुस्तकों की नीरस पढ़ाई में उसे क्या आनंद मिल सकता है। पुस्तकों पर बहुत ज्यादा जोर देना, पुस्तकों का दुरुपयोग करना है। यदि यह कहा जाय कि पुस्तकों में ज्ञान भरा पड़ा है, तो उसके जवाब मे कहा जा सकता है कि बालक में स्वभाव से ही स्वर्गीय गुण होते है। यदि खेलों द्वारा उन्हें विकसित किया जाय, तो पुस्तकों की अपेक्षा कहीं ज्यादा लाभ बालकों को होगा।

राजनीति, धर्म, साहित्य और दर्शन में जो भारी क्रांति हो रही है, उसका असर शिक्षा पर पड़े बिना नहीं रह सकता। प्रत्येक क्षेत्र में पुरानी व्यवस्था बदल रही है, और उसकी जगह नयी व्यवस्था स्थापित हो रही है। ऐसी दशा में शिक्षा के क्षेत्र में नई व्यवस्था का उत्पन्न होना अवश्यंभावी है। शिक्षा में पहले 'विचार' पर बड़ा जोर दिया जाता था। क्या भारतीय और क्या पाश्चात्य, सभी जगह कहा गया है— "विचारान्मोक्षो भवति तस्मात् सदा विचारयेत्।" विचार से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। अब इस विचार धारा में आमूल परिवर्तन हो रहा है। विचार की अपेक्षा अब 'क्रिया' (Acting) पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। क्रिया द्वारा मनुष्य की मानसिक शक्तियों में एकत्व स्थापित होता है। सारी शक्तियाँ अपना अपना काम करने में समर्थ होती है। क्रिया के बिना विचार का कोई मूल्य नहीं। पुरानी कहावत—"बिना सोचे कुछ मत करो" को सुधार कर यों कहना चाहिए "बिना कुछ किये सोचना-विचारना व्यर्थ है। क्रिया और खेल में बड़ा संबंध है। आदि से अंत तक खेल 'क्रिया' के सिवा और कुछ नहीं है। शिक्षण में आज 'क्रिया' का महत्व बढ़ता ही जा रहा है और उसी के साथ खेलों को स्कूलों में सम्मानपूर्ण स्थान मिल रहा है।

खेल में विचारों और सिद्धांतों का व्यवहार होता है, इसलिये खेल कोरे आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। उदाहरण के लिए धर्म को लीजिये। धर्म बहस-मुबाहसे की चीज नहीं है। धर्म का मूल तत्व

भावना(Spirit of Emotion) है। जहाँ तर्क-वितर्क है, वहाँ धर्म नष्ट हो जाता है। जहाँ धर्माचरण है, वहीं सच्चा धर्म है। खेल के भीतर धर्म का यही भाव देखने को मिलता है। खेलते समय बालकों में, एक धार्मिक जोश दिखाई देता है। बालकों में वही श्रद्धा, वही विश्वास और वही अटूट लगन दिखाई देती है, जो धर्मोपदेशक मे। इसलिए खेल उतना ही पवित्र है, जितना धर्म।

कैल्डवेल द्वारा कथित, 'खेल द्वारा शिक्षण-विधि' के साधारण सूत्र (Maxims)

(१) *पाठन-विधि उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी पाठ्य-सामग्री*—कोई भी स्थान न तो स्वग है और न नर्क। कविकर मिल्टन (Milton) ने ठीक ही कहा है कि 'स्वर्ग' और 'नर्क' की रचना मन करता है। वही स्थान एक विशेष मनोदशा में स्वर्ग, और किसी दूसरी मनोदशा मे नर्क जान पड़ता है। स्कूल को स्वर्ग बनाने के लिए, बालकों की मनोदशा में परिवर्तन करना आवश्यक है। यह परिवर्तन पढ़ाई के ढंग द्वारा लाया जा सकता है। पाठन-विधि से पाठ्य-सामग्री रोचक बनाई जा सकती है। इसके लिए शिक्षण में खेलों का प्रयोग करना उचित है। खेद की बात है कि शिक्षक, शिक्षण-विधि की ओर ध्यान नहीं देते। उसका कर्तव्य है कि कक्षा मे, वह बालकों का हर समय ध्यान रक्खे। उसे सबसे पहली बात यह याद रखना चाहिए कि बालकों के लिए पाठ्य सामग्री का उतना ही महत्व है जितना पाठ्य-विधि का। उदाहरण के लिए 'सुमन' पर लिखी हुई कविता यदि अध्यापक शब्दार्थ बताते हुए कक्षा में पढ़ाये तो बालकों को रुचिकर न प्रतीत होगा, परन्तु यदि बालकों को पहले फूल चुनने के लिए कहा जाय, फिर उनसे मालाएँ तैयार कराई जायँ, जिन्हें देवता पर चढ़ाया जाय आदि। फिर 'सुमन' की कविता पढ़कर सुनाई जाय, बालकों को सब-कुछ तुरंत याद हो जायेगा। केवल विधि मे अंतर हो

जाने से परिणाम में बहुत बड़ा अंतर हो जाता है। इसी तरह गणित का एक विषय भी खेल द्वारा सरस बनाया जा सकता है।

(५) *कक्षा में जितना कुछ बालकों की पढ़ाई के लिए किया जा सकता है मौखिक शिक्षण उसका केवल एक तुच्छ अंशमात्र है*— खेद की बात है कि मौखिक शिक्षण के अलावा अध्यापक और कोई विधि जानते ही नहीं। मौखिक शिक्षण, तो ओस चटाने के समान है। ओस चाटने से बालकों की प्यास नहीं जा सकती। शिक्षक को यह विश्वास करना पड़ेगा कि मौखिक शिक्षण से भी उत्तम पढ़ाने की विधियाँ हैं और खेल द्वारा शिक्षण उनमें से एक है। पुस्तकों की पढ़ाई के अतिरिक्त, खेलों का स्कूलों में आयोजन आवश्यक है। अच्छा होगा यदि बालकों को एक खाली घंटा मिला करे और एक कुशल अध्यापक खेलों द्वारा पढ़ाने का प्रबन्ध करे। बालक को इस बात का अभ्यास हो जाय कि वे खेलों द्वारा सीखने लगें।

(३) *स्वायत्तशासन* (Self-government) *केवल अनुशासन नहीं है, वरन् यह एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें बालक अपने आप बहुत कुछ व्यावहारिक ढंग से स्कूल के पाठ सीख सकते हैं*— अनुभव बताता है कि यदि बालकों को एक बार कोई काम करना बता दिया जाय, तो वे अध्यापक के न रहने पर भी, उस प्रकार के दूसरे काम स्वयं कर सकते है। उदाहरण के लिए, यदि वे एक बार कोई नाटक खेल चुके है, तो दूसरे नाटकों के अभिनय में कोई कठिनाई न पड़ेगी। जिस प्रकार स्कूलों में 'परिषद्' बालकों द्वारा चलाई जा सकती है, उसी तरह वे व्याख्यान द्वारा पढ़ाई का भी अपने आप आयोजन कर सकते हैं। इस प्रकार के शिक्षण की हँसी, अध्यापक प्रायः उड़ाते हैं परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि खेलों द्वारा शिक्षण से अधिक सफलता मिलती है, और उसका कारण है, इस विधि की स्वाभाविकता। खेल एक प्रकार की स्वशिक्षा (Self Education) है। खेल-विधि को

स्कूल में चालू करना कठिन भी नहीं है, इसके लिए केवल अध्यापक की रुचि होनी चाहिए।

(४) *यदि बालकों को खेल-विधि द्वारा पढ़ाना हो, तो पहले अध्यापक को खेल से सच्चा प्रेम करना उचित है*——यदि अध्यापक खेल का विरोधी है और खेल को समय नष्ट करने का साधन मानता है, तो खेल-विधि से पढ़ाने में उसे आनंद न आयेगा और वह पढ़ाने में कभी सफल न होगा। एक कक्षा के सब बालकों में कुछ समान गुण अवश्य होते है, परन्तु सभी बातों में, दो बालक भी समान नहीं हो सकते। इसलिये अध्यापक को बालकों की व्यक्तिगत भिन्नता का ध्यान रखना चाहिए। साथ ही बालकों के समुदाय को एक संगठित समाज का रूप देना भी जरूरी है। यह सब खेलों द्वारा अध्यापक उत्पन्न कर सकता है, जैसे समूह गान, या समूह नृत्य मे सब बालको को अपना अपना काम करते हुए भी, एक दूसरे से सहयोग करना पड़ता है। यह स्थिति पैदा करना, अध्यापक का काम है। उसे बालकों के साथ, एकाकार होकर काम करना पड़ेगा, अन्यथा, वह सफल नहीं हो सकता। यह तभी हो सकता है, जब अध्यापक को खेल उतना ही पसंद हो, जितना बालकों को होता है। अगर ऐसा नहीं है, तो दूर तटस्थ भाव से खड़ा हुआ अध्यापक, खेल के आनन्द को नष्ट कर देगा। यही नहीं, इसका परिणाम और भी बुरा हो सकता है, बालक खेल और अध्यापक दोनों से घृणा करने लगेंगे। इसलिये अध्यापक को सच्चा खिलाड़ी होना चाहिए। खेल-विधि बालकों के लिए उपयुक्त है, इसमें तनिक भी संदेह नही। परन्तु इस बात में अवश्य संदेह है कि सभी अध्यापक इस विधि से पढ़ा सकते है। खेल-विधि से पढ़ाना हर एक अध्यापक के लिए संभव नहीं है। जो अध्यापक खिलाड़ी नहीं रहा है, उसमें कुछ ऐसी आदतें पैदा हो जाती है, जिन्हें किसी प्रकार की ट्रेनिंग दूर नहीं कर सकती।

(५) *अध्यापक का सबसे बड़ा गुण है नीतिकुशलता*—सभी बालकों को वश में रखने के लिए, अध्यापक को नीतिकुशल होना चाहिए। कक्षा मे अनेक प्रकार के बालक होते है, उद्धत, दब्बू, निर्बल, सबल, सीधे और शरारती, सभी से काम लेना है। इसके लिए अध्यापक को बाल-स्वभाव का पारखी होना चाहिए, ताकि जिस बालक का जैसा स्वभाव हो, वैसा ही उसके साथ व्यवहार वह कर सके।

(६) *शिक्षण-विधि का आधार है—बालक की रुचि का ध्यान*—बालक स्वभाव से सहनशील होता है, वह कठिनाइयों को झेल भी सकता है, केवल शर्त यह है कि जो काम उससे कराया जाय, उसकी रुचि के अनुकूल हो। चूँकि पाठ्य-विषय, जबरदस्ती उसके ऊपर लाद दिये जाते है, वह कष्ट नहीं उठाता। बहुत से अध्यापक यही भूल करते है कि वे बालक की अपेक्षा 'विषय' का अधिक ध्यान रखते है। अगर बालकों की रुचि को प्रमुखता दी जाय, तो बालक खुशी-खुशी सब प्रकार से परिश्रम करने के लिए तैयार हो जाय। खेल में बालकों को रुचि होती है, इसी से वे कितना परिश्रम करते है। यहाँ रुचि का अर्थ 'मनोरंजन' न समझ लेना चाहिए। पढ़ाई मे जिन खेलों का प्रयोग होता है, उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन नही है। रुचि 'मनोरंजन' से कहीं ज्यादा व्यापक शब्द है। किसी ऐसे काम में रुचि हो सकती है जिसमें कष्ट ही कष्ट हो।

(७) *स्वाभाविक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत अनुशासन का कोई निश्चित आदर्श नहीं होता। मौके* (occasion) *के अनुसार अनुशासन और आचरण का आदर्श बदलता रहता है*—कक्षा में जिस प्रकार बालक चुपचाप बँधे बैठे रहते है, यही सच्चा अनुशासन हो, ऐसी बात नहीं। किसी दशा में, चुपचाप एकाग्र भाव से बैठे रहना 'अनुशासन' कहला सकता है परंतु किसी दूसरी दशा में, यही

बंधन कहलाएगा। खेल में 'चुप रहना' अनुशासन नहीं है। जो लोग पुराने ढंग के अनुशासन के पक्षपाती है, वे खेल-विधि को पसंद नहीं कर सकते। बालकों का सच्चा अनुशासन स्वतंत्रता से उत्पन्न होता है। उन्हें अपने आप काम करने की, जहाँ वे जाना चाहें, जाने की, और प्रश्न करने की पूरी छूट होनी चाहिए। खेलों द्वारा सच्चा अनुशासन उत्पन्न होता है। खेलों में कहीं अधिक नियम-पालन, आज्ञा-पालन संयम और त्याग करना पड़ता है। बालक-समुदाय की प्रशंसा या आलोचना द्वारा बालक की समझ में अनुशासन का मर्म, कहीं अधिक समझ में आ जाता । वह समझने लगता है कि अनुशासन द्वारा काम में सुविधा होती है। खेल में यदि अनुशासन न हो, तो खेल का सारा आनन्द ही नष्ट हो जाय। यह भाव, बालक के निजी अनुभव से उत्पन्न होता है। इसलिए वह अनुशासन का महत्व ठीक ठीक तरह से समझ लेता है।

खेल द्वारा शिक्षण के अध्यापक का भाग—शिक्षक के विषय में हम उपर्युक्त सूत्रों के प्रसंग में लिख चुके है। अध्यापक में मुख्य गुण 'सखाभाव' (Freindliness) का होना चाहिए। वह बालकों से मित्रवत् व्यवहार करे, तभी उसे खेल द्वारा शिक्षण में सफलता मिलेगी। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार के व्यवहार से अध्यापक का आदर-सम्मान समाप्त हो जायगा, तो ऐसा कथन भ्रमात्मक है। यदि अध्यापक मित्रवत्, बालकों की रुचियों का ध्यान रक्खे, तो बालक उसका सच्चा सम्मान करेंगे। अध्यापक का दूसरा काम है, बालकों की व्यक्तिगत समस्याओं में रुचि लेना। यदि ऐसा हो सके तो अध्यापक और बालकों के बीच आत्मीयता होने में कोई संदेह न रहेगा। इस आत्मीयता को उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दोनों उच्छृंखलतापूर्वक बातचीत करें, या हँसी-मज़ाक करें। आत्मीयता का केवल तात्पर्य है कि बालकों और अध्यापक के बीच में संकोच का भाव दूर हो जाय। बालक अपने अध्यापक के निकट पहुँचने में कठिनाई का अनुभव न करें। अध्यापक-

को चाहिए कि वह विद्यार्थियों को प्रश्न करने का मौका दे, चाहे प्रश्न कितने ही मूर्खतापूर्ण क्यों न हों। उनकी हँसी उड़ाना या चिढ़ाना अनुचित है। ऐसा मैत्रीपूर्ण और स्नेहयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के लिए, अध्यापक को खिलाड़ी होना चाहिए। खेलों में भाग लेते समय जितना निकट सम्पर्क विद्यार्थियों से होता है, उतना कक्षा में पढ़ाते समय हो ही नहीं सकता। अध्यापक न तो विद्यार्थियों को फुसलायें; न खुशामद करें और न उनके ऊपर कोई बात जबरदस्ती लादे। यदि अध्यापक बालक की रुचि का सर्वत्र ध्यान रक्खे, तो कोई समस्या ही न उत्पन्न हो।

अब अध्यापक के कार्यों की बात लीजिये। खेल द्वारा शिक्षण में उसे अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। कक्षा-शिक्षण में अध्यापक को अधिक से अधिक एक-दो घंटे पाठ की तैय्यारी में खर्च करने पड़ते हैं। कक्षा में आकर वह एक व्याख्यान दे देता है, बस छुट्टी। खेल द्वारा शिक्षण में अध्यापक को चौबीसों घंटे व्यस्त रहना पड़ता है क्योंकि खेल जैसे मनोरंजन-प्रधान माध्यम द्वारा एक गंभीर कार्य करना पड़ता है। यदि अध्यापक तनिक भी चूक जाय, तो पढ़ाई का कार्य रुक जाय। पढ़ाई के लिए, खेलों की योजना बहुत पहले से करनी पड़ती है। प्रत्येक बालक के स्वभाव का अध्ययन करना पड़ता है। सब प्रकार की सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। इन सब बातों से खेल-विधि से पढ़ाने वाले अध्यापक के घोर परिश्रम का पता चलता है।

शिक्षण में प्रयुक्त होनेवाले खेलों का विवरण

(१) *स्वायत्त शासन* (Self Government)—किसी भी स्कूल में खेल द्वारा पढ़ाई का प्रारंभ स्वायत्त शासन की स्थापना से होता है। स्कूल के कार्यों और अनुशासन का प्रबंध बालकों के हाथों में सौंप दिया जाता है। इसका उद्देश्य यह है कि बालकों में स्वशिक्षण की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय। खेल द्वारा शिक्षण में, अध्यापक की अपेक्षा

विद्यार्थी की जिम्मेदारी ज्यादा रहती है। इस जिम्मेदारी को निभाने का अभ्यास स्वायत्त शासन द्वारा कराया जाता है। अपने आप सीखने की आदत, स्वायत्त शासन द्वारा उत्पन्न होती है।

इस स्वायत्तशासन का जन्म, शिक्षा के क्षेत्र में चलने वाले सुधारवाद से हुआ। प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री इस बारे में एकमत है कि बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता का अनुभव कराना चाहिए। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का यह प्रतिरूप—स्वायत्तशासन—स्कूलों में बालकों के आगे प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्येक कक्षा के बालक अपने प्रतिनिधि चुनते है, और एक परिषद् बनाते है। यह परिषद् बालकों के सभी प्रकार के कार्यों का आयोजन करती है। यह एक ऐसा उपाय है जिसके द्वारा बालकों को हर एक काम अपने आप करने का अभ्यास कराया जाता है। यहाँ तक कि बालक अपने आप पढ़ाई का प्रबंध करने लगते है। यहाँ 'स्वायत्तशासन' शब्द का प्रयोग विस्तृत रूप से किया जा रहा है। इसका अर्थ है, प्रत्येक कार्य को चलाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना। जैसे स्कूल में, बहुत से पाठ बालक मिलकर आपस में पढ़ लेते है, अनुशासन के लिए नियम बनाते हैं और खेल आदि का प्रबंध करते है। अनुभव बताता है कि प्रारंभ में ऐसी व्यवस्था लाने में कठिनाइयाँ आती है परन्तु धैर्य के साथ यदि प्रयत्न करता जाय, तो स्वायत्त शासन की व्यवस्था स्थापित की जा सकती है। प्रारंभिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने पर ही, शुभ परिणामों की आशा की जा सकती है। स्वायत्तशासन एक प्रकार का गंभीर खेल है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो जायेगा।

स्वायत्तशासन का अभ्यास बालकों की पढ़ाई के लिए हितकर है। इससे बालकों को प्रेरणा मिलती है। जो बालक अपना उत्तरदायित्व निभा सकते हैं, उन्हे सफलता मिलती है, इससे उनके मन में उत्साह और स्वाभिमान उत्पन्न होता है। यह सब प्रेरक 'शक्तियाँ' है, जिनसे स्फूर्ति प्राप्त होती है। कक्षा में जिस समय अध्यापक पढ़ाता है, बालक

उसे धोखा दे सकता है, परन्तु खेल में इस तरह धोखा देना संभव नहीं है, क्योंकि यदि वह पूरा प्रयत्न न करे, तो खेल ही रुक जाय। इसी तरह खेल द्वारा बालक को अनुभव हो जाता है कि यदि वह पढ़ने म स्वयं प्रयत्न नहीं करता, तो उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

(२) *बच्चों के व्याख्यान*—कक्षा में प्रत्येक बालक को, कुछ मिनट तक बोलने के लिए कहा जाता है। प्रत्येक बालक अपनी पसंद के विषय पर भाषण देता है। यह भाषण पहले से तैयार किया हुआ, या बिना तैयार किया हुआ, हो सकता है। कक्षा का एक विद्यार्थी सभापति का आसन ग्रहण करता है और वह जिस बालक का नाम पुकारता है, वह बोलने के लिए आता है। एक विद्यार्थी कक्षा में पूछ-ताँछ करता रहता है कि कौन बालक, किस विषय पर भाषण देने के लिए तैयार है। एक विद्यार्थी निर्णायक का काम करता है। सर्वश्रेष्ठ भाषण का अंतिम निर्णय, कक्षा में हाथ उठाकर मत द्वारा, प्रकट किया जाता है।

इन व्याख्यानों द्वारा निबंध-लेखन में बड़ी सहायता मिल सकती है। बालकों को अपने विचार प्रकट करने, तर्क करने और शुद्ध उच्चारण करने का अभ्यास हो जाता है। बालकों की आलोचनात्मक शक्ति भी विकसित होती है क्योंकि उन्हें 'अच्छा' या 'बुरा' व्याख्यान कहकर निर्णय देना पड़ता है। व्याख्यानों को तैयार करने में बालकों को स्वतः अध्ययन करना पड़ता है। पुस्तकालय मे जाकर वे, अपने विषय को तैयार करने के लिए, दस-पाँच पुस्तकें पढ़ते है और सामग्री इकट्ठा करते है।

भूल सुधार के लिए, एक छात्र बैठा रहता है। व्याख्यान के समय, शब्द-प्रयोग की भूल या अशुद्ध उच्चारण का अवसर आते ही, वह एक हथौड़े से मेज़ पर चोट लगाता है। उसकी आवाज़ से वक्ता चौकन्ना हो जाता है और भूल सुधार देता है। कभी-कभी, अगर यह छात्र होने वाली भूल नही पकड़ पाता, तो कक्षा का दूसरा विद्यार्थी वक्ता को टोक देता है और इस विद्यार्थी को हथौड़ा पकड़ा दिया जाता है। भूल

सुधार की यह विधि बड़ी कारगर साबित हुई है। कुछ लोग इस विधि का विरोध यों करते हैं कि, इससे व्याख्यान के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। साथ ही भूल-सुधार का काम केवल बालकों के द्वारा ठीक से नहीं हो सकता। बहुत सी ऐसी भूलें है, जिन्हे बालक नही पकड़ सकते। ऐसी स्थिति मे अध्यापक भूल की ओर इशारा कर सकता है या व्याख्यान के अंत मे उस भूल के बारे में कक्षा को समझा सकता है।

व्याख्यान के विरोधियों का कहना है कि, जितना लिखने से भाषा पर अधिकार हो जाता है, उतना बोलने से नही। दूसरे, व्याख्यानों द्वारा केवल कुछ बालकों का लाभ होता है। दब्बू और शर्मीले स्वभाव के बालक बोलते ही नही। वास्तव में यह दोष ऐसे नहीं है, जिन्हें दूर न किया जा सकता हो। बारी-बारी से यदि बालकों को भाषण देने के लिए कहना उचित नहीं। क्योंकि संभव है, जिस बालक की बारी हो, वह तैयार न हो और जिसकी बारी न हो, वह बोलने के लिए तैयार हो। ऐसी स्थिति में जो बोलने के लिए उत्सुक हो, ऐसे बालक को मौका देना उचित है। हाँ, जो बालक लगातार कई सप्ताह तक न बोले उनकी सूची तैयार करके कक्षा के सामने रखना आवश्यक है।

व्याख्यानों का लिखित विवरण रखना जरूरी है। इसके लिए शीघ्र-अंकन लिपि (Shorthand) का प्रयोग वांछनीय है। व्याख्यानों को लिखकर रखने में लाभ यह है कि बालक अपनी भूलों को और अच्छी तरह समझ सकते है।

(३) *कल्पनाप्रधान साहस की कहानियाँ*—यह बात प्रायः सभी जानते है कि बचपन में बालकों की कल्पनाशक्ति अत्यधिक तीव्र होती है। कक्षा में बैठे हुए वे दिवा स्वप्न (Day-dreams) देखा करते हैं। रात में वे अपनी बूढ़ी दादी या नानी को कहानियाँ सुनाने के लिए तंग किया करते हैं। कागज पर पेंसिल से जंगल, पहाड़ और नदियों के

चित्र खींचने में उन्हें अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। बालकों में कल्पनात्मक कहानियों के पात्रों के साथ अपने को लय कर देने (Identify) की विचित्र शक्ति होती है। पढ़ाई में इस मनोवैज्ञानिक तत्व से लाभ उठाना चाहिए। प्रत्येक बालक अपने लिए नोट बुक रखता है और उसमें वह उन कहानियाँ को सरल और स्पष्ट भाषा में लिख लेता है, जो उसे बहुत पसंद आती है। सप्ताह में एक दिन कक्षा के सब बालक एकत्र होते है और किसी कमरे में या बाग में बैठकर एक दूसरे से कहानियाँ सुनते हैं। वे अपनी कापियों एक दूसरे से बदल सकते है। पढ़ते समय भाषा और व्याकरण की भूलो पर वे निशान लगा देते है, जो बाद में ठीक जा सकती है।

(४) *नकली नगर*——नकली नगर का उद्देश्य लिखने-पढ़ने के के अतिरिक्त दूसरी बातों का अनुभव कराना है। स्कूल के आस-पास बेकार पड़ी हुई जमीन का उपयोग इसके लिए किया जा सकता है। ऐसे स्थान पर ग्रामीण वातावरण पैक कर दिया जाता है। मिट्टी, कंकड़, पत्थर लाकर पहाड़ की शक्ल तैयार कर दी जाती है। नल का फालतू पानी नदी की शक्ल में इस स्थान में लाया जाता है। पानी को अपने स्थान पर रखने के लिए सीमेंट का प्रयोग किया जा सकता है। पतली सड़कें बना दी जाती है और खिलौने वाली रेलगाड़ी का प्रबन्ध कर दिया जाता है। छोटे-छोटे स्टेशन, प्लेटफार्म, पुल आदि भी बना दिये जाते है। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक और बालकगण मिलकर नकली नगर की रचना करते है। इस नगर-निर्माण के कार्य में हर एक बालक भाग ले सकता है।

नकली नगर का बसाना, एक प्रकार का गंभीर खेल है। इसमें बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति संतुष्ट होती है। साथ ही उसे नदी, जंगल, पहाड़, नगर, सड़क, रेल, यातायात, भवन तथा अन्य वस्तुओं का ज्ञान खेल में, अनायास प्राप्त हो जाता है। इस नकली नगर में बाजार, दूकानें

खाने तथा अन्य व्यापार के काम चलाये जाते है। इसका प्रत्यक्ष अनुभव बालकों को हो जाता है। नागरिकता का व्यावहारिक रूप यहाँ देखने को मिलता है। नकली नगर में जुटे हुए बालकों को देखकर बड़ा हर्ष होता है। चारो ओर उत्साह और स्फूर्ति नजर आती है। बालकों को इतना आनंद आता है, कि वे भोजन करना और चाय पीना तक भूल जाते है। नकली नगर के खेल को अधिक आकर्षक बनाने के लिए अन्य योजनायें भी बनाई जा सकती है, जैसे बाढ़ से बचाने के लिए बाँध का प्रबंध, तैरने के लिए झील बनवाना, शत्रुओं से रक्षा के लिए दुर्ग और परकोटा बनवाना आदि।

नकली नगर का खेल, एक गंभीर शिक्षा का साधन है जिसके लिए अध्यापक को परिश्रम करना पड़ता है। इसमे कक्षा-शिक्षण की अपेक्षा अधिक जागरूक रहने की आवश्यकता है। कम से कम, इस खेल में अध्यापक का उत्तरदायित्व बहुत ही ज्यादा है।

(६) *नाटको का अभिनय* — बालकों को सबसे अधिक आनंद नाटकों के अभिनय मे आता है। कारण यह है कि इसके द्वारा वे यथार्थ जीवन का अधिक अनुभव कर सकते है। राम-लक्ष्मण या किसी भी आदर्श पात्र का अभिनय करता हुआ बालक अपने व्यक्तित्व को अपने प्रिय पात्र के व्यक्तित्व में तिरोहित कर देता है। इस दशा में उसे अपूर्व आनंद प्राप्त होता है, उसे प्रेरणा मिलती है। उसकी अनुभूति-शक्ति बढ़ती है, पढ़ने से केवल बात बुद्धिगम्य हाती है; परन्तु अभिनय द्वारा वह भावगम्य हो सकती है। इसलिए यदि हर बात को नाट्यशैली द्वारा पढ़ाया जाय तो पाठन-विधि अधिक प्रभावशाली जान पड़ेगी। 'नगर' और 'ग्राम', 'कोयला' और 'हीरा', 'मेघ' और 'समुद्र' जैसे विषय नाटकीय ढंग से पढ़ाये जा सकते हैं। कक्षा के सामने जिस समय एक विद्यार्थी 'नगर' और दूसरा 'ग्राम' के रूप में, खड़ा होकर वार्तालाप प्रारंभ करता है, तो ऐसा रूखा विषय भी इतना सरस हो जाता है, कि सभी बालक उत्सुकतापूर्वक, दोनों

का संवाद सुनने लगते है। आज लोग भूल से नाटकों को केवल मनोरंजन के लिए देखते है। प्राचीन काल मे नाटकों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता था। उपदेश की अपेक्षा नाटक, शिक्षा का अधिक प्रभावोत्पादक ढंग माना जाता था।

अभिनय को सफल बनाने के लिए नियोजन और निर्देशन की आवश्यकता है। यह आवश्यक नही है कि अध्यापक इसके लिए ट्रेनिंग ले। नाटक की पुस्तक पढ़ कर ही अभिनय की कला के बारे मे बहुत कुछ जाना जा सकता है। एक बार, दो बार अभिनय करने के बाद 'रंगमंच' सम्बंधी कठिनाइयो का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अब नाटक की बात लीजिये। बालकों के लिए शुद्ध साहित्यिक नाटक पहले नहीं चुनना चाहिए। छोटे बालकों के लिए अनेक नाटक लिखे हुए मिल सकते है। हिंदी में बाल-नाटकों की कमी है। अध्यापक उनमें से कुछ अच्छे नाटक चुन ले और कक्षा में पहले पढ़ने के लिए बालकों को बाँट दे। कौन नाटक पहले खेला जाय, यह निश्चय करने का भार विद्यार्थियों पर ही डाल देना उचित है। अभिनय से यह निश्चित करने का भार बालकों पर डाल देने से निम्नलिखित लाभ होंते हैः—

(१) आदि से अंत तक नाटक पढ़कर बालकों को कहानी का आनंद प्राप्त हाता है।

(२) अध्यापक या किसी आलोचक की राय से प्रभावित हुए बिना, वे नाटक के बारे में अपनी निजी राय बनाते है।

(३) उन्हें अपने आप अध्ययन करने की आदत पड़ती है।

(४) बिना किसी बाधा के, आपस में मिलकर एक उद्देश्य के लिए प्रयत्न करने का उन्हें अभ्यास होता है।

(५) उन्हें अपने आप यह ज्ञात हो जाता है कि सीखने में भी आनंद मिल सकता है।

(६) वे यह भी समझ जाते है कि मनोरंजन के अतिरिक्त, नाटक

का एक और भी गंभीर उद्देश्य है—वह है शिक्षण। भावी जीवन में उन्हे इससे लाभ होगा।

अभिनय विधि से अच्छी तरह लाभ उठाने के लिए आवश्यक है कि नाटक कई बार खेला जाय। नाटक के अंत में, यह स्वाभाविक है कि बालक, आपस में विचार-विमर्श करें। इस दशा में सच्ची पढ़ाई होती है। यदि नाटक ऐतिहासिक है, तो इतिहास के संबंध में बहुत-कुछ बताया जा सकता है। तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक समस्याओं के संबंध में, बालकों को अच्छी जानकारी हो जाती है। 'संगीत' और 'नृत्य' आदि कलात्मक विषय नाटक में आ ही जाते है। 'भाषा' का विषय तो मुख्य होगा। शब्दों, मुहावरों और वाक्य-रचना आदि का ज्ञान कराया जा सकता है।

(६) *आंगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का खेल* (Miming)—यदि मनुष्य मुख से कुछ न बोले, तो भी अपने अंगों की सहायता से अपने हृदय के भावों को व्यक्त कर सकता है। हाथ-पैरों के संचालन, आँखों की गति तथा मुख की रेखाओं से वही काम लिये जाते है जो शब्दों से। अतः बालकों को इनके प्रयोग मे बड़ा आनंद आता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु का बोध कराने के लिये कुछ संकेत (Signs) निश्चित कर लिए जाते है, उन संकेतों की सहायता से बिना बोले हुए दो आदमी बातचीत कर सकते है। 'स्काउटिंग' में ऐसा प्रयोग होता भी है। मूक अभिनय (Dumb show) में इसके द्वारा सारे भाव व्यक्त किये जाते है। कुछ उदाहरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। सर के हिलाने से 'अनुमति' या 'असहमति' प्रकट करते है। मुख की भावभंगिमा से 'प्रश्न' व्यक्त करते है, ओंठ दबाकर या दाँत पीसकर क्रोध प्रकट करते है। भावों के अतिरिक्त वस्तुओं का बोध भी बँधे हुए संकेतों द्वारा कराया जाता है। जैसे 'राजा' का बोध सर पर हाथ घुमाने से होता है, उँगली से हवा में वृत्त खींचने से 'दिन'

का, पैर से जमीन छूने से 'यहाँ' का, सर पर हाथ रखने से 'पुरुष' का, कमर पर हाथ रखने से 'स्त्री' का बोध होता है। अपनी सुविधा के अनुसार यह संकेत निश्चित किये जा सकते हैं।

इन संकेतों का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने के बाद, अभिनय किया जा सकता है और कहानियाँ कही जा सकती हैं। इन खेलों में बालकों को अपूर्व आनंद आता है। 'संकेतों' और 'मुद्राओं' में जरा भी भूल होने से अस्पष्टता आ जाती है। इसलिए दूसरे बालक तुरंत ही भूल पकड़ लेते हैं। इससे बालकों में आलोचनात्मक शक्ति उत्पन्न होती है। बालकों को यह खेल इतना पसन्द आता है कि वे स्वयं बिना किसी सहायता के इसे खेलने लगते हैं। आंगिक चेष्टाओं के खेल में अध्यापक की सहायता की आवश्यकता है। उसे कहानियों का चुनाव करना चाहिए, जो संकेतों द्वारा सरलता से कही जा सकती हैं।

(७) पद्योबद्ध कहानियों के खेल—पद्योबद्ध कहानियों का उपयोग भी, मूक अभिनय द्वारा किया जा सकता है। इस कार्य में प्रयुक्त की जाने वाली, कहानी बालकों को अच्छी तरह मालूम होनी चाहिए। इसलिये अच्छा तो यह है कि बहुत प्रसिद्ध कहानियाँ, इसके लिए चुनी जायँ। इसके बाद एक बालक चुनी हुई पद्योबद्ध कहानी को कक्षा में उच्च स्वर से सुनाये। कई बालकों द्वारा दुहराये जाने से, बालक उससे और भी अच्छी तरह परिचित हो जाते हैं। इस बीच में यदि कोई बालक कुछ पूछना चाहे, तो उसे पूछने की अनुमति अवश्य देना चाहिए। कभी-कभी एक-कहानी, कई कवियों द्वारा अपनी अपनी शैली में लिखी जाती है। ऐसी दशा में तुलना के लिए कई शैलियों का परिचय बालकों को देना उचित है। अधिक रोचकता उत्पन्न करने के लिए, कहानी को कई टुकड़ों मे बाँट देना चाहिए ताकि कई छात्रों को पढ़ने का अवसर मिले। कविता के एक-आध अंश ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें कई बालक मिलकर पढ़ सकते है। पढ़ते समय मूक अभिनय द्वारा भाव प्रकट करने से प्रभाव बढ़ जाता है।

(८) रचनात्मक खेल—पहले बालक नाटकों का अभिनय, मूक अभिनय, करते है या कहानियो के खेल खेलते है। धीरे-धीरे वे स्वयं अपने आप नाटक की रचना करना चाहते है। उनकी इस मौलिक रचना-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। संभव है, वे पहिले कथानक या पात्रों की कल्पना न कर सकें। इसलिये यदि वे परिचित नाटकों की घटनाएँ लेना चाहे, तो उन्हे ऐसा करने की छूट देनी चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि बालको की भाषा इतनी संयत और व्यवस्थित नहीं होती कि उन्हे नाट्य-रचना करने दिया जाय परन्तु ऐसा विचार गलत है। कारण यह है कि बालकों की आरम्भ की भूलो को स्थायी भूलें न समझना चाहिए। पहले वे भूलें करेंगे परन्तु इसी से धीरे-धीरे उनका भाषा पर अधिकार हो जायगा। उनकी रचना-शक्ति इतनी विकसित हो जायगी कि वे स्वयं लिखने लगेंगे। आजकल के युग मे पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से प्रत्येक व्यक्ति को इतनी सुविधा प्राप्त है कि वह अपनी रचना प्रकाशित करा सकता है। स्कूलो मे बालकों से छोटी छोटी कहानियाँ लिखाना और फिर उन्हें विद्यालय-पत्रिका में प्रकाशित कराना, उनके लिए लाभदायक है। कम से कम वे इस योग्य हो जायँगे कि वे अपने विचार अच्छी तरह प्रकट करने लगें। अभिनय के लिए बालक जो नाटक या एकांकी लिखें, उनमें कई बातों का ध्यान रखना चाहिए। उनकी रचनाओं में यथार्थवाद की अपेक्षा कल्पनात्मक चित्रण पर जोर दिया जाय। क्योंकि बाल्यकाल में बालकों मे कल्पना-शक्ति प्रस्फुटित होती है। यदि यथार्थवाद पर जोर दिया जायगा, तो लिखने में बहुत से बन्धन आ जायँगे। स्वाभाविकता पर बहुत अधिक ध्यान रखने से, अनेक घटनाओं की काट-छाँट करनी पड़ती है। अतः बालकों की स्वतन्त्रता में यह बाधक सिद्ध होगा। जहाँ तक हो सके, इन नाटकों के कथानक कल्पनात्मक, तथा शैली काव्यात्मक हो।

नाट्य-रचना का खेल, इतिहास और साहित्य की पढ़ाई के लिए उपयोगी हो। निबन्ध लेखन, इतिहास का अध्ययन, और आलोचना आदि

विषय इसकी सहायता से पढ़ाये जा सकते है। बालकों को छोटी कक्षा में ही रामायण, महाभारत, पृथ्वीराजरासो, पद्मावत तथा अन्य प्रबन्ध काव्यों का प्रारंभिक ज्ञान कराया जा सकता है। ऊँची कक्षा के विद्यार्थियो के लिए भी यह विधि उपयोगी है। अपनी रचनाओं के लिए कथानक चुनने में, उन्हे अध्ययन करना पड़ता है। 'नाटक' के इतिहास, विभिन्न शैलियों, रंगमंच की कठिनाइयों आदि का उन्हें पूरा ज्ञान हो जाता है। इसी संबंध में वे विभिन्न नाट्यकारो का तुलनात्मक अध्ययन भी कर सकते है।

कक्षा मे पहले, बालको से कोई भी पौराणिक कहानी पढ़वानी चाहिए। कथानक के संबंध में वे अच्छी तरह विचार-विमर्श करें और अपने-अपने लिखने का ढंग निश्चित करें। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक अलग-अलग लिखे। कई बालक मिलकर उस कथानक के एक अंश को अपने नाटक के लिए चुन सकते है। उन्हीं लोगों को अभिनय करना है इसलिये हर एक बालक को, जिस पात्र का अभिनय करना हो उसका संवाद या कथन, लिखना चाहिए। इससे अभिनय में अधिक जान आ जाती है। यह एक ऐसा प्रसंग है, जिसमें अध्यापक बालकों को नाट्यकला के अंगो के विषय में पढ़ा सकता है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन और शैली आदि के नियम उन्हे बहुत अच्छी तरह समझाये जा सकते है।

इस प्रकार इस रचनात्मक खेल में निम्नलिखित पद (Steps) आते है:—

(१) कहानी का पढ़ना या कहना।
(२) खुले दिल से विचार-विमर्श।
(३) उपसमिति का चुनाव (जो प्रबंध करेगी)।
(४) कथानक के लिए नोट्स तैयार करना।
(५) प्रारंभिक अभिनय।
(६) अध्यापक द्वारा पाठ।

(७) मुख्य-मुख्य बातों पर विचार-विमर्श।

(८) ध्यान से कथानक की घटनाओं का चुनाव, आवश्यक परिवर्तन, तथा लिखना।

(६) अभिनय तथा 'रिहर्सल।'

(१०) संवादों का अंतिम रूप निश्चित करना।

(११) पूरी तयारी के साथ अभिनय।

आदि से अंत तक अध्यापक को निर्देश करते रहना चाहिए। बालक बड़े उत्साह से उसके पास आते है। उनके भावों को धक्का न पहुँचने पाये। यदि कोई बात उनकी समझ में न आये, तो क्रोधित होना अनुचित है। यदि वे किसी बात पर अड़ जायँ, तो उसका ध्यान रखना चाहिए। यहाँ पर अध्यापक को बालकों के स्वभाव, कार्य और व्यवहार आदि के अध्ययन का पूरा मौक़ा मिलता है। उससे उसे लाभ उठाना चाहिए। विशेपरूप से जहाँ भी बालकों की रचनात्मक-प्रवृत्ति परिलक्षित हो, वहाँ बहुत सतर्क रहना चाहिए। उसका बालक के भावी-जीवन से बहुत बड़ा संबंध है। उसका किसी प्रकार से भी हनन न होने पाये।

आलोचना

खेल-विधि के प्रयोग ने स्कूल के वातावरण में अभूतपूर्व परिवर्तन पैदा कर दिया है। अब स्कूलों मे ज्ञान का व्यापार नहीं होता। बालक, यहाँ जीवन-बिताने की कला सीखते है। यहाँ 'विचार' और 'व्यवहार' में समन्वय किया जाता है और विवेक जीवन का प्रधान अंग बन जाता है। शिक्षा में खेलों के द्वारा उत्पन्न यह परिवर्तन कोई नई चीज नहीं है। हजारों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में और यूनान में, शिक्षा का यही आदर्श समझा जाता था। वर्तमान काल में प्रो० डिवी ने शिक्षा के क्षेत्र में, करीब-करीब, इन्हीं सिद्धातों का प्रतिपादन किया है। उनके मत में भी एक शिक्षित व्यक्ति को विद्वान होने के साथ-साथ व्यवहार-कुशल भी होना चाहिए। भावी-जीवन के लिये तैयारी करने के साथ,

जीवन बिताने की कला का जानना भी आवश्यक है। इस सम्बन्ध में, खेल-विधि के विधायक कैल्डवेल कुक के और डिवी के विचार समान हैं। जीवन और शिक्षा के सम्बन्ध के विषय में डिवी महोदय के विचारों का विश्लेषण हम योजना-विधि के प्रसंग में कर चुके है। ऐसा जान पड़ता है कि कुक ने बहुत-कुछ डिवी के विचारों को ग्रहण कर लिया है। कुक का कथन है कि विद्यालय के जीवन और सामाजिक जीवन में साम्य होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो शिक्षा देना व्यर्थ है। वे कहते है—"सार्वजनिक विद्यालयों के विद्वान अध्यापकों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे, इस बात को अच्छी तरह मान लें।............ विद्यार्थियों और दफ्तर, खेत, कारखाने, मिलो में काम करनेवाले उनके पिताओं के जीवन में बहुत बड़ा संबंध है, आपके स्कूल की चहार-दीवारी से बाहर,सामाजिक वातावरण का जो प्रभाव बालकों पर पड़ रहा है, वह केवल साधारण रूप से विचारणीय नहीं है, वरन वह सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति है जो बालकों का जीवन बना और बिगाड़ सकती है।" कुछ का मुख्य सूत्र है—स्कूल अपने आप में एक छोटा संसार होना चाहिए (A school must be a little world in itself) या "यह अपने आप में एक छोटा राष्ट्र" है (A little state in itself) जहाँ बालक, अध्यापकों के पथ-प्रदर्शन में जीवन के साधारण सिद्धांत और व्यवहार-सीखते है। यहाँ ठीक समाज की तरह, संगठन, शासन, कला तथा दस्तकारी के व्यापार चलते रहते है। कुक के शिक्षा-सम्बन्धी विचार, डिवी के सिद्धांत कि 'स्कूल समाज का छोटा प्रतिरूप है' (School is the miniature Society)—से मिलते है। खेल-विधि से शिक्षण में हमें जीवन का दृश्य दिखाई भी पड़ता है। बालक अपनी परिषद् बनाते है, उसका प्रबंध चलाते है, खेलों का आयोजन करते है और नियमों के अनुसार कर्तव्य-पालन करते है।

खेल-विधि के अन्तर्गत हम 'स्वायत्तशासन' का जिक्र कर चुके है। यह इस विधि का महत्वपूर्ण अंग है और इसकी खास विशेषता है। आज

कल विद्यालयों में 'राजनीति' की चर्चा करना बुरा समझा जाता है। इससे विद्यार्थियों में दलबंदी (Party politics) का दुर्गुण उत्पन्न होता है। अध्यापकों को भी इस विषय से दूर रहने के लिए कहा जाता है। आश्चर्य है कि खेल-विधि में 'राजनीति' को सबसे ऊँचा स्थान दिया गया। 'स्वायत्तशासन' का आधार राजनीति ही है। ऐसा क्यों किया गया ? बात यह है कि स्वायत्तशासन का आयोजन बालकों के भावी नागरिक-जीवन की तैयारी है। यह वह थोथी राजनीति नहीं सिखाता, जिससे आपस में फूट पड़ती हो। यहाँ 'राजनीति' वादविवाद तक सीमित नहीं, वरन् यहाँ राजनीति का उपयोगी ढंग से व्यवहार होता है। वे सच्चे नागरिक बनते हैं। प्राचीन और नवीन विधानों का तथा अनेक प्रकार की शासन-विधियों का अध्ययन वे सरलता-पूर्वक कर सकते हैं।

खेलविधि द्वारा शिक्षण से, बालकों में उच्चकोटि की सामाजिक भावना उत्पन्न होती है। उनमें पारस्परिक प्रेम, सहयोग और उदारता के भाव पुष्ट होते हैं। उनके चरित्र का विकास होता है। परन्तु उनके स्वभाव में सबसे बड़ा गुण वह आजाता है, जिसे जागरूकता कह सकते हैं। जागरूक बालक देश, काल और समाज में आनेवाले नवीन परिवर्तनों को पहचानने की शक्ति रखता है। यह गुण सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है। औद्योगीकरण, व्यवसाय, वैज्ञानिक उन्नति और महायुद्ध—इनके कारण समय अपना चोला बदल रहा है। वर्तमान-युग बहुमुखी क्रांतियों से पूर्ण है। थोड़े ही दिनों में देश की कायापलट हो जाने की संभावना है। इन गंभीर परिवर्तनों को सँभालने की शक्ति शिक्षित व्यक्तियों में होनी चाहिए। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे इस मौके पर अपना कर्तव्य पूरा करें। यदि मनुष्य उसी प्रकार रहता रहे, जैसे आज रह रहा है, तो जीवन का आगे चलना कठिन हो जायगा। इसलिए बालकों को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। खेलविधि का प्रयत्न इसी दिशा की ओर है।

असंतुष्ट है। वे इतना समय और शक्ति व्यय करना कभी भी न स्वीकार करेंगे।

खेल-विधि के समर्थक, बालकों की रुचियों और प्रवृत्तियों को शिक्षण का केंद्र मानते है। इसका कारण वे यह देते है कि रुचियाँ सहज और पवित्र है। क्या वास्तव में ऐसा है? बालक में अच्छी और बुरी, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ और रुचियाॅ होती है। 'रचना' के साथ-साथ 'विनाश', 'प्रेम' के साथ-साथ 'क्रोध' और 'ईर्ष्या' आदि बालकों में मिलते है। बालको की प्रवृत्तियों को हर प्रकार प्रशंसा करना अनुचित है। 'खेलविधि', वास्तव मे प्राचीन दमनपूर्ण विधि के विरुद्ध एकांगी प्रतिक्रिया है। बालकों के स्वर्गीय रूप को सामने रखने में यह एकांगी बन गई है। अब रुचियों की बात लीजिये। रुचियाॅ (Interest) सहज नहीं है। हरएक बालक जन्म से कोई रुचि लेकर नहीं पैदा होता है। रुचियाँ तो वातावरण की देन है। यदि बालक कुरुचिपूर्ण वातावरण में अपना जीवन व्यतीत करे, तो उसकी रुचियों पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। उसकी रुचियाॅ विषाक्त हो जायँगी। स्कूल में, न जाने कितने प्रकार की परिस्थितियों में पले हुए बालक आते है। उन सबकी रुचियाँ अच्छी हों, ऐसा होना नितांत असम्भव है। फिर कैसे उनकी रुचियों को शिक्षण का सूत्र माना जाय। और यदि रुचियाँ पवित्र हों, तो स्कूल का काम क्या रहा! पवित्र और उपयोगी रुचियो की प्राप्ति के लिए ही, तो बालक स्कूलों मे आते है। उदाहरण के लिए, बालको को शिक्षा इसलिए दी जाती है कि वे सुयोग्य, कर्तव्यपरायण, कर्मनिष्ठ नागरिक बन सकें। यह गुण शिक्षा पूरी करने के बाद उनमे उदय होते है। खेल-विधि में, सबसे पहले स्वायत्त शासन की व्यवस्था सबसे पहले की जाती है। यह एक विचित्र विरोधाभास दिखाई देता है। शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व बालक असंस्कृत, विवेकहीन और अपटु होता है। वह 'स्वायत्तशासन' की गंभीरता नहीं समझता। फिर वह इसे कैसे चलाएगा? यह बात तो कुछ ऐसी है, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। क्या बिना

शरते पर क़दम रक्खे हुए, अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाना संभव है ? 'साधन' के बाद 'साध्य' आता है; 'कारण' के बाद 'परिणाम' आता है। परन्तु खेल-विधि में साध्य पहले आ जाता है, परिणाम पहले हो जाता है, साधन और कारण बाद में आते है। यह तो वैसे ही है, जैसे तने पर क़दम रक्खे बिना पेड़ की चोटी पर पहुँचना। स्वायत्तशासन की क्षमता उत्पन्न करने के लिए, हम बालकों को शिक्षा देते है और यहाँ खेलविधि में बालक शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही प्रजातन्त्र के सिद्धान्त सीख लेते है। आश्चर्य होता है इस बात पर।

कुछ आलोचकों का कथन है कि इस विधि से बालकों में साहित्यिक गुण नही उत्पन्न होते, परन्तु यह आक्षेप निराधार है। बालकों को यहाँ हर प्रकार से साहित्यिक ज्ञान कराया जाता है। हाँ, यदि असली कमी है, तो वैज्ञानिक बिषयों की पढ़ाई की। कुक ने अपनी इतनी बड़ी पुस्तक में केवल साहित्यिक विषयों की पढ़ाई में खेलो के प्रयोग के उपाय बताए हैं पर बैज्ञानिक विषयों की ओर उन्होंने संकेत तक नहीं किया। हम सभी जानते है कि अब वैज्ञानिक विषयों का महत्व अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। खेल द्वारा इन्हें कैसे पढ़ाना संभव होगा, इसके लिए अभी तक मार्ग नहीं सुझाया गया है।

अब मनोरंजन की बात लीजिये। जहाँ खेल-विधि की प्रशंसा में यह कहा जा सकता है कि इसके द्वारा गंभीर और कठिन कार्य भी खेल जान पड़ते हैं, वहाँ, खेल-विधि का एक बहुत बड़ा दोष यह है कि, इसके द्वारा खेल जैसी क्रिया की मनोरंजकता नष्ट हो गई। खेल में पढ़ाई-लिखाई का समावेश कर देने से, बालक खेलों से भी भागने का प्रयत्न करेंगे। पढ़ाई का भाव आ जाने से कुछ न कुछ बन्धन और जोर-दबाव का भाव आ ही जाता है। बालकों के लिए खेल आमोद-प्रमोद की वस्तु है। वे काम कर चुकने के बाद इन्हीं से अपना मन बहलाते है। पढ़ाई में, जब उनका प्रयोग होने लगेगा, तो खेलों को वह मनोरंजन का साधन न समझेंगे। इस प्रकार खेल-विधि से एक उपयोगी वस्तु नष्ट

होती है।'मनोरंजन' और'कार्य व्यस्तता' दोनों में अलग-अलग मानसिक स्थिति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों मनोदशाओं का एक-दूसरे पर आरोप करना अनुचित है और अस्वाभाविक है। इस दृष्टि से खेलों का पढ़ाई में प्रयोग कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

खेलों के समर्थक यदि यह कहते है कि बालक, अपने भावी जीवन में, इस विधि से पढ़ाई कर चुकने के बाद, हर एक 'काम' को खेल की भावना (Spirit of Play) से करेंगे, तो उसके जवाब में कहा जा सकता है कि इससे उनकी हानि होगी। संसार में जितनी भी समस्यायें और कठिनाइयाँ आती है उन्हें खेल समझना भूल है। मुसीबतें उठाने में, खेल का भाव पैदा हो ही नहीं सकता और यदि मनुष्य उन्हें खेल समझे तो, वह मुसीबत का सामना कर भी नहीं सकता और न उनकी चोट सहन करने योग्य बन सकता है। फिर पढ़ाई को खेल बनाना, शिक्षक की कला है। स्कूल में शिक्षण को खेलों के रूप में प्रस्तुत करना अध्यापक का काम है; बेचारे बालक इसे समझ नहीं पाते। व्यापार, दफ्तर, फैक्ट्री या कारखाने के काम तो खेल के रूप मे नहीं किए जाते। इस तरह खेल-विधि के समर्थकों को एक ओर विचार-वैषम्य(Paradox) का सामना करना पड़ता है जिसका उत्तर देने में वे असमर्थ हैं। वे स्कूल और समाज—दोनों के जीवन में साम्य लाना चाहते हैं परन्तु परिणाम उल्टा होता है। स्कूल का जीवन इतना सुखद जान पड़ता है कि बालक सामाजिक-जीवन के दुखद संघर्ष का सामना कर नहीं पाते।
